



तत्त्वज्ञान विवेचिका-भाग १

पाठ १ : सीमंधर पूजन

प्रश्न १ : श्री सीमंधर भगवान के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर : अनंतानंत प्रदेशी आकाश के मध्य-स्थित असंख्यात प्रदेशी तीन लोक के ठीक बीचोंबीच त्रस-नाड़ी संबंधी मध्य-लोक के ढाई द्वीप में सुदर्शन, विजय, अचल, मंदर और विद्युन्माली नामक पाँच मेरु पर्वत हैं। इन पाँचों मेरु संबंधी पूर्व, पश्चिम विस्तृत कर्मभूमियों का क्षेत्र महा-विदेह कहलाता है। इन पाँच महा-विदेह क्षेत्रों में सतत दुःखमा-सुखमा काल की व्यवस्था विद्यमान होने के कारण यहाँ से अनेकों जीव सतत मोक्ष-दशा प्राप्त करते रहते हैं। यहाँ प्रत्येक महा-विदेह संबंधी चार—इसप्रकार पाँच महा-विदेह संबंधी कम से कम बीस तीर्थकर सतत विद्यमान रहते हैं। ये एक साथ अधिक से अधिक एक सौ साठ भी हो सकते हैं।

इस जंबु-द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरवर्ती अन्तिम आठवें पुष्कलावती विदेह में 'श्री सीमंधर' नामक शाश्वत तीर्थकर विद्यमान हैं। यहाँ इस नाम वाले पूर्व तीर्थकर का निर्वाण हो जाने पर पुनः इसी नाम वाले दूसरे तीर्थकर समवसरण-सहित विहार करने लगते हैं; अर्थात् जंबु-द्वीप का प्रस्तुत विदेह क्षेत्र इन 'श्री सीमंधर भगवान' के विहार से कभी भी वंचित नहीं रहता है।

प्राप्त प्रमाणों के आधार से यह सर्व विदित है कि वर्तमान में वहाँ विद्यमान 'श्री सीमंधर भगवान' के दर्शन का लाभ, इस भरत क्षेत्र के अध्यात्म-प्रतिष्ठापक, द्वितीय श्रुत-स्कंध के प्रणेता दिग्गज आचार्य 'श्री कुन्दकुन्ददेव' को मिला था। वे दक्षिण भारत में स्थित पौन्नूर हिल से पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित, श्री सीमंधर भगवान के दर्शन करने गए थे। वहाँ उन्होंने निराहार रहकर सात दिन पर्यंत भगवान की

दिव्य-ध्वनि का भरपूर लाभ लिया था। दिव्य-ध्वनि-काल के अतिरिक्त काल में, वहाँ विराजमान गणधर आदि से भी शंका-समाधान कर उन्होंने अपने ज्ञान को अत्यधिक निर्मल किया था।

वहाँ से यहाँ वापिस आकर आपने उस दिव्य-ज्ञान के माध्यम से सनातन सत्य वस्तु-धर्म/जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार में, जिनवाणी माँ का कोश, समृद्ध करने में अभूत-पूर्व योगदान दिया था। इसी आधार पर तत्कालीन गृहस्थ श्रावकों ने जीवन्त तीर्थनाथ के रूप में 'श्री सीमंधर भगवान' की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित कराई थी। इसप्रकार भारत-वासी आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के कारण 'श्री सीमंधर भगवान' से जुड़ गए हैं।

वैसे तो यहाँ इस पंचम-काल में साक्षात् तीर्थकरों का विरह होने के कारण प्रारम्भ से ही विदेह क्षेत्रस्थ विद्यमान विहरमान बीस तीर्थकर उपास्य रहे हैं। भक्त-गण स्तुतिओं, स्तोत्रों, पूजनों, विधानों, प्राण-प्रतिष्ठाओं आदि के माध्यम से उनके प्रति अपने भक्ति-भाव व्यक्त करते रहे हैं; परन्तु अभी इस अर्ध शती में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा मुख्य रूप से समयसार को आधार बनाकर जो आध्यात्मिक जिनवाणी-गंगा की अविरल धारा प्रवाहित हुई है; इसके कारण 'श्री सीमंधर भगवान' के साक्षात् दर्शन से महिमा-मंडित, समयसार आदि परमागमों के प्रणेता आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के प्रति विशिष्ट श्रद्धावनत भक्त-गणों ने मात्र श्री सीमंधर स्वामी की प्राण-प्रतिष्ठा भी प्रारम्भ की है। तदनुसार गुणानुरागी भक्त-हृदय कविओं ने स्तुतिआँ, स्तोत्र, पूजन आदि के माध्यम से उनके प्रति अपने भक्ति-भाव भी समर्पित किए हैं। उसी धारा में भक्त-हृदय 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर' ने भी प्रस्तुत पूजन के माध्यम से अपना भक्ति-भाव व्यक्त किया है।

प्रश्न २ : श्री सीमंधर भगवान की पूजन का अर्थ लिखिए ?

उत्तर : 'डॉ. हुकमचंद भारिल्ल' द्वारा रचित प्रस्तुत 'श्री सीमंधर पूजन' भाषा, भाव, साहित्य तथा अध्यात्म की दृष्टि से एक अद्वितीय रचना है। इसमें पूजन-सामग्री के कल्पित गुणों को वास्तविक रूप से भगवान में देखकर, उनके प्रति आकर्षित हो, उनके प्रतीक रूप में

यह सामग्री भगवान के चरणों में समर्पित करने की भावना भाता हुआ भक्त, सम्यग्दर्शन की प्रगटता से लेकर मोक्ष-प्राप्ति पर्यंत का उपाय भगवान से सीखकर स्वयं भगवान बन जाने का संकल्प व्यक्त करता हुआ, समयसारमय सीमंधर भगवान की अपरम्पार महिमा से अभिभूत हो अपनी वाणी को विराम देता है।

पूजन के प्रत्येक छंद का अर्थ क्रमशः इसप्रकार है—

स्थापना : भव-समुद्र सीमित कियो, सीमंधर भगवान।
कर सीमित निज ज्ञान को, प्रगट्यो पूरण ज्ञान।।
प्रगट्यो पूरण ज्ञान-वीर्य-दर्शन-सुखधारी,
समयसार अविकार विमल चैतन्य विहारी।
अंतर्बल से किया प्रबल रिपु-मोह पराभव,
अरे भवान्तक ! करो अभय हर लो मेरा भव।।

हे सीमंधर भगवान ! आपने अपने सार्थक नाम के अनुसार इस संसार-समुद्र को सीमित कर दिया है अर्थात् आपका यह अन्तिम भव है; इस भव की समाप्ति पर आप सदा-सदा के लिए संसार से छूटकर मोक्ष-पद प्राप्त कर लेंगे। आपने अपने ज्ञान को सीमित कर/ संपूर्ण पर-पदार्थों से हटाकर अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा में लगाकर परिपूर्ण ज्ञान/क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञान/अनंत ज्ञान प्रगट किया है। इस परिपूर्ण अनंत ज्ञान के साथ ही आपमें अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख भी प्रगट हो गए हैं—इसप्रकार आप अनंत चतुष्टय-संपन्न हैं। आपने अन्तर्बल से/आत्म-स्वरूप में परिपूर्ण लीनतामय अन्तरोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ से समस्त जगत के महा-बल-शाली मोह रूपी शत्रु को जीतकर निर्विकार, निर्मल समयसार स्वरूप शुद्ध दशा प्रगट कर ली है। आप अपने चैतन्य स्वभाव में निरंतर विहार कर रहे हैं। इसप्रकार आपने अपने संसार को पूर्णतया नष्ट कर दिया है। हे संसार को नष्ट करने वाले या नष्ट करने के लिए अंतक/यमराज के समान सीमंधर स्वामी ! मुझे भी इस संसार के भय से निर्भय कर दो, मेरा संसार भी हर लो/नष्ट कर दो।

तात्पर्य यह है कि आपके द्वारा बताए गए मार्ग को जानकर, पहिचानकर, मैं भी आपके समान अपने शुद्धात्मा में सतत लीन रहूँ;

तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक ३

जिससे मेरा भी संसार नष्ट होकर मैं भी आपके समान वीतरागी-सर्वज्ञ हो जाऊँ—इस रूप में भक्त अपने मन-मंदिर में सीमंधर भगवान की स्थापना कर रहा है।

जल: प्रभुवर तुम जल से शीतल हो, जल से निर्मल अविकारी हो। मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुम ही तो मल-परिहारी हो॥ तुम सम्यग्ज्ञान जलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो। भविजन मन मीन प्राणदायक, भविजन मन-जलज खिलाते हो॥ हे ज्ञान-पयोनिधि सीमंधर! यह ज्ञान-प्रतीक समर्पित है। हो शान्त ज्ञेय-निष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है॥

इस छंद में जल संबंधी समस्त विशेषताओं को भगवान पर घटित करके, ज्ञान के प्रतीकरूप में जल को समर्पित कर, उसके माध्यम से अपनी ज्ञेय-निष्ठा को शांत करने की भावना भाई गई है।

पूजक कहता है कि हे भगवन ! आप जल के समान शीतल हैं; जल के समान ही अत्यंत स्वच्छ निर्मल समस्त विकारों से रहित, अविकारी हैं। यद्यपि मल को धो डालने में समर्थ होने से जल का एक नाम 'मल-परिहारी' भी है; तथापि वास्तव में तो मिथ्यात्वरूपी मल को धोने में समर्थ होने के कारण आप ही मल-परिहारी हैं।

हे भगवन ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जल के सागर/भंडार हैं, प्राणी मात्र के जीवन को अमर बनाने में निमित्तभूत दिव्य-ध्वनि रूपी अमृत की वर्षा करने के लिए जलधर/मेघ के समान हैं। आप भव्य जीवों के मनरूपी मछलिओं को प्राण-दान देनेवाले पवित्र जल हैं तथा भव्य जीवों के मनरूपी जलज/कमल को विकसित करने के लिए उर्वरक जल हैं।

हे ज्ञान के भण्डार, ज्ञान-सागर सीमंधर स्वामी ! आपके चरण-कमलों की पूजा करने के लिए मैं यह ज्ञान का प्रतीकरूप जल समर्पित कर रहा हूँ। जैसे—जल, प्राणिओं की प्यास को शांत करता है; उसी प्रकार हे भगवान ! इस ज्ञानरूपी जल से मेरी ज्ञेय-निष्ठा/पदार्थों को जानने संबंधी प्यास/आकुलता शांत हो जाए। मैं भी आपके ही समान पर से पूर्ण निरपेक्ष रह अपने ज्ञान-स्वभाव में ही लीन रहूँ—इस भावना को पुष्ट करने के लिए ही ज्ञानरूपी जल से

आपकी पूजन कर रहा हूँ।

चंदन: चंदन-सम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्रकिरण से सुखकर हो। भव ताप निकंदन हे प्रभुवर ! सचमुच तुम ही भव-दुख-हर हो॥ जल रहा हमारा अन्तःतल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से। यह शान्त न होगा हे जिनवर रे ! विषयों की मधुशाला से॥ चिर-अंतर्दाह मिटाने को, तुम ही मलयागिरि चंदन हो। चंदन से चरचूँ चरणांबुज, भव-तप-हर ! शत-शत वंदन हो॥

हे भगवान ! आपका चंद्रमा के समान पवित्र मुख या शरीर, चंदन के समान शीतल है; चंद्रमा की किरणों के समान सुख देने वाला है। संसार के ताप को नष्ट करनेवाले हे भगवन ! वास्तव में आप ही संसार के दुःख को नष्ट करनेवाले हैं। हे भगवन ! मेरा मन अनादि से ही इच्छाओं रूपी अग्नि की ज्वालाओं से जल रहा है। वह पंचेंद्रिय विषय-भोगों की विविध सामग्रियों से शांत होनेवाला नहीं है।

इस अनादि-कालीन अंतरंग जलन को शांत करने के लिए हे प्रभो ! आप ही मलयागिरि चंदन के समान हैं; अर्थात् आपकी वाणी के मुख्य केन्द्र-बिन्दु अपने शुद्धात्मा में स्थिरता ही एक-मात्र इस अंतर्दाह को मिटाने में सक्षम है; अतः संसार के ताप को नष्ट करनेवाले हे भगवान ! मैं आपके चरणारविन्दों की चंदन से पूजन कर रहा हूँ; आपको मेरा शत-शत वंदन है।

इसप्रकार इस छंद द्वारा लोक-मान्य शीतलता-प्रदाई चंदन और चंद्रमा के साथ भगवान की तुलना कर भगवत स्वरूप शुद्धात्मा को ही वास्तविक शीतल-स्वभावी सिद्धकर, इसमें स्थिरता के प्रतीक रूप में चंदन से भगवान की उपासना की गई है।

अक्षत: प्रभु ! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ। क्षत-विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ॥ अक्षत का अक्षत-संबल ले, अक्षत-साम्राज्य लिया तुमने। अक्षत-विज्ञान दिया जग को, अक्षत-ब्रम्हाण्ड किया तुमने॥ मैं केवल अक्षत-अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया। निर्वाण-शिला के संगम-सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया॥ हे भगवन ! वास्तव में आप ही अक्षतपुर/कभी भी नष्ट नहीं

होनेवाले मोक्ष-नगर के निवासी हैं। मेरा भी यह विश्वास है/मेरी भी यह मान्यता है कि अपने स्थाई स्थान में स्थाई निवास ही सुखमय है। इन क्षत-विक्षत/सदैव नष्ट होनेवाले/क्षण-भंगुर पदों में अब मेरा विश्वास नहीं रह गया है; अर्थात् राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, चक्रवर्ती, इंद्र, अहमिंद्र आदि क्षणिक पदों के प्रति मेरे मन में तनिक भी आकर्षण नहीं है। मैं तो मात्र आपके ही स्थाई सिद्ध पद का प्रत्याशी/उम्मीदवार बनकर आया हूँ। आपने अनादि-अनंत ध्रुव अक्षत आत्मा में अक्षत संबल से/परिपूर्ण स्थिरता से अक्षत साम्राज्य/अविनाशी (भाव) मोक्ष-पद प्राप्त किया है।

इस अविनाशी साम्राज्य को प्राप्तकर आपने जगत-जन को अक्षत विज्ञान/अनादि-अनंत वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान दिया है तथा अपने ब्रह्माण्ड को भी अक्षत कर लिया है/अपनी समस्त पर्यायों को परिपूर्ण शुद्ध स्वाभाविक निर्मलता-सम्पन्न कर लिया है। मुझे भी मात्र इसी अक्षत पद की चाह/इच्छा है; अतः अक्षत लेकर आपके चरणों में आ गया हूँ। निर्वाण-शिला/स्फटिक-मणिमय अत्यंत धवल सिद्ध-शिला के संगम के समान/सिद्ध रूप में स्थाई निवास के अवसर के समान यह धवल अक्षत मेरे मन को अति रुचिकर हो गया है।

इसप्रकार इस छंद द्वारा अक्षत/चावल के माध्यम से अक्षय शुद्धात्मा की अक्षय अखण्ड उपासना से प्राप्त अक्षत साम्राज्य/सिद्ध पद की भावना भाते हुए सीमंधर भगवान की उपासना की गई है।

पुष्प : तुम सुरभित ज्ञान-सुमन हो प्रभु, नहिं राग-द्वेष दुर्गन्ध कहीं।

सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।।

निज अंतर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से।

चैतन्य-विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से।।

सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पबेलि से यह लाया।

इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच चरण में ले आया।।

लौकिक दृष्टि से वनस्पति-कायिक पुष्प में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

१. वह परिपूर्ण सुगन्धित है, किसी भी रूप में दुर्गन्ध रंच-मात्र नहीं है।

२. अत्यन्त कोमल होने से उस पर किसी अन्य का प्रभाव नहीं पड़ता है।

३. स्वयं स्वतः अंतरंग से सुगन्धित होने के कारण उसकी सुगंध डाली पर लगे रहने तक कभी भी नष्ट नहीं होती है।

४. वास्तव में उसकी सुगंध स्वयं उसके लिए ही होती है; किसी ने उसका उपयोग किया कि नहीं; इससे उसका कुछ भी संबंध नहीं है।

५. अनेक-अनेक विपरीत परिस्थितियों से पूर्ण अप्रभावित रहता हुआ वह, स्वयं में मस्त रहता है।

इत्यादि अनेक विशेषताएँ लौकिक पुष्प में पाई जाती हैं।

प्रस्तुत छंद में पुष्प की इन क्षणिक विशेषताओं को वास्तविक रूप में भगवान पर घटित किया गया है। वह इसप्रकार —

हे भगवन ! आप स्वयं अत्यंत सुगन्धित ज्ञानरूपी पुष्प हैं, आपमें राग-द्वेष आदि विकारी भावों की दुर्गन्ध किसी भी रूप में रंच-मात्र नहीं है। आप अपने ज्ञान-दर्शनमय चैतन्य शरीर से सर्वांग सुकोमल हैं। जगत में रहते हुए भी वास्तव में आपका, जगत से कुछ भी संबंध नहीं रहा है। आपने जो अंतर्वास/सुख-शान्ति प्रगट की है, वह स्वयं से स्वयं के लिए ही प्रगट की है; उसे प्रगट करने में आपको अन्य की रंच-मात्र आवश्यकता नहीं पड़ी है। वह प्रगट सुख-शान्ति भी स्वयं आपके चैतन्यरूपी विशाल वन में मात्र आपके ही जीवन को सुखद/आनंदित करने के लिए व्यक्त हुई है; उसे अन्य से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अनंतानंत विविध ज्ञेय आपमें प्रतिबिम्बित होते हुए भी आप, उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहते हुए अपने आनंद में संतुष्ट हैं।

हे भगवन ! आपके इस ज्ञानरूपी पुष्प को देखकर मेरे मन को भी एक राह/सभी प्रसंगों में आनंदमय जीवन जीने की कला प्राप्त हो गई है; जिससे मेरा मनरूपी पक्षी अत्यंत प्रसन्न होकर आपकी उपासना करने के लिए अपने भावों रूपी चोंच में, आपके प्रति भक्ति-भावरूपी पुष्पों को लेकर आपके चरणों में आ गया है।

नैवेद्य: आनंद-रसामृत के द्रव्य हो, नीरस जड़ता का दान नहीं।

तुम मुक्त-क्षुधा के वेदन से, षट्स का नाम-निशान नहीं।।

विध-विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शांत हुई मेरी।

आनंद-सुधारस-निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी।।

तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक ७

चिर-तृप्ति-प्रदाई व्यंजन से, हों दूर क्षुधा के अंजन ये।
क्षुत्पीडा कैसे रह लेगी ? जब पाए नाथ निरंजन ये॥

हे प्रभो ! आप अतीन्द्रिय आनंद रसरूपी अमृत के सरोवर हैं; इसलिए आप कभी भी रस-रहित/नीरस, जड़/अचेतन पदार्थों का दान नहीं देते हैं; अर्थात् आपने यह कभी भी नहीं बताया है कि इन जड़ पदार्थों के आश्रय से भी जीवन आनंदमय हो सकता है। आपने सदा यही बताया है कि अपना ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनंदमय होने से स्वयं में स्थिरता ही आनंदमय दशा है। आप भूख की पीडा से पूर्णतया रहित हैं; अतः खट्टे-मीठे आदि छह रसों का आपके जीवन में नाम-निशान भी नहीं है/आप यह जड़ भोजन कभी भी नहीं करते हैं। हे भगवन ! अनेक-अनेक व्यंजनों/पक्वान्नों के समूह के आश्रय से मेरी भूख आज तक भी शांत नहीं हो सकी है और आप तो आनंदरूपी अमृत के महान झरने हैं; अतः मैंने अब आपकी शरण ले ली है। सदा संतुष्टि देने वाले आत्मारूपी व्यंजन को प्राप्त कर लेने पर अब यह भूख की बाधा कैसे रह सकती है ?

जब मैंने आप जैसे निरंजन/निर्दोष परमात्मा को पा लिया है/अपने शुद्धात्मा को पहिचान लिया है, तब यह भूख की कालिमा अब कैसे रह सकती है ? अब नियम से यह नष्ट होगी ही होगी। अब मुझे इन जड़ व्यंजनों की आवश्यकता नहीं रहेगी; अतः पूजन के बहाने आपकी साक्षी में इन्हें छोड़ने का संकल्प लेने आया हूँ।

दीपः चिन्मय-विज्ञान-भवन अधिपति, तुम लोकालोक-प्रकाशक हो।

कैवल्य किरण से ज्योतित प्रभु! तुम महा-मोह-तम नाशक हो॥

तुम हो प्रकाश के पुंज नाथ ! आवरणों की परछाँह नहीं।

प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं।।

ले आया दीपक चरणों में, रे ! अन्तर आलोकित कर दो।

प्रभु तेरे मेरे अन्तर को, अविलंब निरन्तर से भर दो॥

हे भगवन ! आप अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन रूप चैतन्यमय विज्ञान भवन के अधिपति/स्वामी हैं/ आप अनंत चतुष्टय-सम्पन्न हैं। आपके ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक प्रकाशित हो रहा है/झलक रहा है। आपका सम्पूर्ण भवन केवलज्ञान रूपी महा-दीप की प्रकाश-किरणों से प्रकाशित

है। आप अनादि-कालीन महा-मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले हैं। हे प्रभो ! आपका अद्भुत ज्ञानमय जीवन मानो प्रकाश का ही पुंज है; इस पर ज्ञानावरण आदि आवरणों की परछाँह भी नहीं है/आप द्रव्य-भाव घाति कर्मों से पूर्णतया रहित हैं।

यद्यपि आपके इस ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेयावलि/अलोकाकाश-सहित तीन-काल और तीन-लोकवर्ती समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं; तथापि आपकी चेतनमयता उनसे रंच-मात्र प्रभावित नहीं है/सभी पदार्थों को सहज भाव से जानते हुए भी आप उनसे पूर्णतया निरपेक्ष हैं, पूर्ण वीतरागी हैं। हे भगवन ! मैं आपके चरणों में यह अपना ज्ञान रूपी दीपक लेकर आया हूँ।

आप इससे मेरे अंतर-आत्मा को प्रकाशित कर दें/आप मुझे वह पथ बताएं कि जिसे अपनाकर मैं अपने श्रुत-ज्ञान रूपी दीपक से स्वयं को प्रकाशित कर, इसमें ही स्थिर रह सकूँ; मोहान्धकार का नाशकर, आप जैसा बन सकूँ। हे प्रभो ! इस ज्ञानरूपी दीपक से आप, आपके और मेरे बीच के अन्तर को शीघ्र नष्ट कर दें/आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर/अपने आत्मा में पूर्ण स्थिर हो आपके ही समान मैं भी वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान बन जाऊँ।

धूपः धू-धू जलती दुख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगतीतल है।

बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है॥

यह धूम घूमरी खा-खाकर, उड़ रहा गगन की गलिओं में।

अज्ञान-तमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंगरलिओं में॥

संदेश धूप का तात्त्विक प्रभु, तुम हुए ऊर्ध्वगामी जग से।

प्रगटे दशांग प्रभुवर तुमको अन्तःदशांग की सौरभ से॥

हे प्रभो ! इस सम्पूर्ण जगती-तल/विश्व में रहने वाले समस्त संसारी प्राणिओं के अंदर दुःखों की ज्वाला धू-धू करके निरंतर जल रही है; जिससे यह संसारी प्राणी अत्यधिक त्रस्त है/आकुलित/दुःखी है। इस असह्य दुःख के कारण वह अपनी सुध-बुध खोकर बेहोश पड़ा हुआ है। उसे वस्तु-स्वरूप/अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं है। इसे बेसुध अवस्था में ही प्रलयकारी राग, तीव्र वेग से बड़ रहा है/यह जीव अपने संबंध में अज्ञानता के कारण पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तीव्र लालसा

तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक ९

में उलझता रहता है और इसके कारण वह चार गति, चौरासी लाख योनिओं में भटक-भटककर अनंत दुःख पाता हुआ, उसीप्रकार यहाँ से वहाँ चक्कर लगा रहा है; जिसप्रकार आकाश में धुआँ यहाँ से वहाँ उड़ता रहता है। यह धूप का धुआँ ऊपर की ओर उड़ रहा है।

हे भगवन ! धूप के इस तात्त्विक संदेश को समझकर आप भी जगत से ऊर्ध्व-गामी हो गए हैं/जगत में रहते हुए भी आप जगत से पूर्ण विरक्त हो स्वयं में स्थिर होकर, पर से पूर्ण निरपेक्ष वीतरागी हो गए हैं। अपने त्रिकाली ध्रुव तत्त्व की सुगंधी के आश्रय से आपमें दशांगी धूप के समान धर्म के उत्तम क्षमा आदि दश-अंग, व्यक्त हो गए हैं/आप पूर्णतया सम्यक्-रत्नत्रय-सम्पन्न अनन्त चतुष्टयमय वीतरागी-सर्वज्ञ हो गए हैं।

फलःशुभ-अशुभ वृत्ति एकांत दुःख अत्यंत मलिन संयोगी है।
 अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है॥
 काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य-सदन के आँगन में।
 चंचल छाया की माया-सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में॥
 तेरी फल-पूजा का फल प्रभु! हों शांत शुभाशुभ ज्वालाएं।
 मधुकल्प फलों-सी जीवन में, प्रभु! शान्ति-लताएं छा जाएं॥
 हे प्रभो ! शुभ-अशुभ/मंद कषाय-तीव्र कषाय रूप समस्त ही पराधीन परिणाम एकांत दुःखरूप/पूर्णतया दुःखमय ही हैं; उनमें सुख रंच-मात्र भी नहीं है। ये परिणाम अत्यंत मलिन/अशुद्ध/विकृत हैं तथा कर्म के उदय में, अन्य के आश्रय से उत्पन्न होने वाले संयोगी भाव हैं। ये वास्तव में अपने ज्ञानानंद आदि अनंत वैभव-संपन्न स्वभाव को अपनत्वरूप से नहीं जानने के कारण उत्पन्न होते हैं तथा अपने स्वभाव के विरोधी भाव हैं/चैतन्य स्वभाव की गरिमा को नष्ट करने वाले परिणाम हैं। ये अपने चैतन्यरूपी घर के आँगन में/एक-एक समयवर्ती क्षणिक पर्याय में काँटों के समान दुःख-दाई रूप में पैदा होते रहते हैं। कर्मोदय-जन्य होने से ये छाया के समान कभी भी एक रूप नहीं रहते हैं/सतत स्वभाव से ही हीनाधिकतामय हैं।

मैं इनसे अत्यधिक दुखी हूँ; अतः हे नाथ ! फल द्वारा आपकी पूजन करके, उसका फल मात्र इतना ही चाहता हूँ कि ये समस्त शुभाशुभ

ज्वालाएं शांत हो जाएं/ये सभी कषायमय भाव, पर्याय में से भी नष्ट हो जाएं तथा बसंत ऋतु में अमृतोपम फलों को उत्पन्न करने वाली लताओं के समान मेरे अंदर भी शान्ति-लताएं उत्पन्न हो जाएं/मैं भी पूर्ण वीतरागी बन अतींद्रिय आनन्दमय अमर जीवन व्यक्त कर लूँ।

अर्घ्यः निर्मल जल-सा प्रभु निजस्वरूप, पहिचान उसी में लीन हुए।

भव-ताप उतरने लगा तभी, चंदन-सी उठी हिलोर हिए॥

अभिराम भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति प्रसून लगे खिलने।

क्षुत् तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य प्रदीप लगा जलने॥

मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए।

फल हुआ प्रभो ! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन स्वस्थ हुए॥

इस छंद में अष्ट-द्रव्यमय अर्घ्य से भगवान की पूजन करने के बहाने सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध दशा पर्यंत समस्त शुद्ध दशाओं के व्यक्त होने की प्रक्रिया बताई गई है। वह इसप्रकार -

हे प्रभो ! आप निर्मल जल के समान परम-पवित्र अपने ज्ञानानंद स्वभाव को अपनत्वरूप से पहिचानकर उसी में लीन हो गए हैं/अपने स्वभाव के आश्रय से आपने सम्यग्दर्शन प्रगटकर, उसमें ही विशेष स्थिरता से मुनि-दशा प्रगट कर ली है; जिससे संसाररूपी ताप उतरने लगा/कषायें नष्ट होने लगीं और चंदन के समान शीतल लहरें हृदय में उत्पन्न हो गईं/क्षपक श्रेणी का आरोहण कर आप निष्कषाय, वीतरागी, परम-शांत हो गए हैं। जिससे आपने अत्यंत सुन्दर, अविनाशी अनंत चतुष्टयमय भवन प्राप्त कर लिया है। जिसमें समस्त शक्तिओं के पुष्प विकसित हो गए हैं; भूख, प्यास आदि अठारह दोष नष्ट होकर आपके अन्दर केवलज्ञान रूपी प्रदीप प्रज्वलित हो उठा है/आप पूर्ण वीतरागी, सर्वज्ञ, सयोग-केवली अरहंत भगवान हो गए हैं।

तत्पश्चात् योगों की चंचलता भी नष्ट होने लगी है, शुक्ल-ध्यानरूपी अग्नि में कर्मरूपी ईंधन जलकर भस्म होने लगा है/आप क्रमशः योग-निरोध के बाद अयोग-केवली अरहंत हो गए हैं। जिसका फल ऐसा अद्वितीय आकर्षक हुआ है कि आप अत्यंत धवल, कर्म-कालिमा से रहित, अपने स्वरूप में परिपूर्ण लीन, स्वस्थ सिद्ध भगवान हो गए हैं। आपने अपनी समग्र साधना का सर्वोत्कृष्ट फल सिद्ध पद

प्राप्त कर लिया है।

इसप्रकार इस छंद में मोक्ष-मार्ग से लेकर मोक्ष पाने पर्यंत की परिपूर्ण प्रक्रिया का/भगवान बनने की विधि का वर्णन आठ द्रव्यों के रूप में किया गया है। जिसका संक्षिप्त-सार इसप्रकार है—

भगवान बनने की इच्छा रखनेवाला जीव सबसे पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से ज्ञानानंद-स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें विशेष लीन होता है/सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक विशिष्ट सम्यक्चारित्रमय मुनि-दशा प्रगट करता है। इसके बाद जब वह अपने भगवान आत्मा में और भी अधिक तीव्र अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक विशेष स्थिर होने लगता है, तब क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण निष्कषायी, वीतरागी हो जाता है। इसके बाद वही जीव घाति-कर्मों का पूर्ण अभाव होने पर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय-सम्पन्न तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोग-केवली अरहंत हो जाता है।

आयु के अंत में मन, वचन, काय संबंधी योगों की चंचलता का नाशकर वही जीव चौदहवें गुणस्थान में अयोग-केवली अरहंत बन जाता है। तत्पश्चात् शेष रहे अघाति-कर्म तथा शरीर आदि नोकर्मों का भी अत्यंत अल्प काल में अभाव हो जाने पर वह जीव, सादि-अनंत काल पर्यंत के लिए परिपूर्ण शुद्ध, अव्याबाध सुखमय सिद्ध भगवान हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि संसारी से सिद्ध बनने का उपाय, एक-मात्र अपने ज्ञानानंद-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर रहना है; अन्य कुछ भी नहीं है।

जयमाला : सीमंधर भगवान-पूजन की जयमाला के प्रारम्भिक छंदों में सीमंधर भगवान का सामान्य परिचय दिया गया है। इसके बाद की पंक्तिओं में भगवान बनने की विधि बताते हुए; उनकी विद्यमानता को दर्शाया गया है। तदनन्तर आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव को सीमंधर भगवान से प्राप्त दिव्य-ज्ञान की चर्चा करते हुए, उनसे प्राप्त समयसार आदि की तथा अपनी भावना की चर्चा की गई है। अंत में समयसार की महिमा का गान करते हुए पूजन पूर्ण की गई है।

इन सबका विस्तार इसप्रकार है—

वैदेही हो देह में, अतः विदेही नाथ।

सीमंधर निज सीम में, शाश्वत करो निवास॥१॥

श्री जिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहंत।

वीतराग सर्वज्ञ श्री, सीमंधर भगवंत॥२॥

हे सीमंधर भगवान ! आप देह में रहते हुए भी देह/शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा में पूर्ण लीन होने से वैदेही/देह से सर्वथा भिन्न कहलाते हैं। विदेह क्षेत्र के विद्यमान तीर्थंकर होने से आप विदेही नाथ/विदेह क्षेत्र के स्वामी कहलाते हैं। अपने नाम के अनुसार आप अपने स्व-चतुष्टय या द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा में रहते हुए, सदैव आनन्द पूर्वक रह रहे हैं। आप पूर्व विदेह क्षेत्र के विद्यमान अरहंत हैं। हे सीमंधर भगवान ! आप पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हैं।

हे ज्ञान स्वभावी सीमंधर! तुम हो असीम आनंदरूप।

अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्य भूप॥३॥

मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अति प्रचंड।

हो स्वयं अखंडित कर्म शत्रु को, किया आपने खंड खंड॥४॥

ज्ञान-स्वभावमई/केवलज्ञान-सम्पन्न हे सीमंधर भगवान ! आप अनंत आनंदमय हैं। आप अपनी सीमा में सीमित/संकुचित रहते हुए भी त्रैलोक्य-भूप/तीन-लोक के राजा हैं। मोहरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए आप अत्यंत तेजस्वी ज्ञानरूपी सूर्य हैं। यद्यपि आप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सभी ओर से अखंडित हैं/अभिन्न हैं; तथापि आपने कर्मरूपी शत्रुओं को खंड-खंड/नष्ट कर दिया है।

गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान।

आतम-स्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान॥५॥

तुम दर्शन ज्ञान दिवाकर हो, वीरज मंडित आनंदकंद।

तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्ण चन्द॥६॥

पूर्व विदेह में हे जिनवर! हो आप आज भी विद्यमान।

हो रहा दिव्य उपदेश, भव्य पा रहे नित्य अध्यात्म ज्ञान॥७॥

हे भगवन ! आपने घर-गृहस्थी में रहने की कारणभूत रागरूपी आग को नष्टकर महान मुनि-पद/शुद्धोपयोगरूप मुनि-धर्म धारण किया।

इसके बाद आत्म-स्वभाव की साधना के बल पर आपने परिपूर्ण ज्ञान/केवलज्ञान प्रगट किया है। आप दर्शन-ज्ञानमई स्व-पर-प्रकाशी सूर्य हैं; अनंत-वीर्य से सुशोभित आनंद के कंद हैं। आप अपने आपमें स्वयं से ही परिपूर्ण हैं तथा वास्तव में आप ही आल्हाद-दायक वास्तविक परिपूर्ण चन्द्रमा हैं। हे जिनेन्द्र भगवान ! आप पूर्व विदेह क्षेत्र में आज भी तीर्थकरूप में विद्यमान हैं तथा आपका दिव्य/पवित्र उपदेश दिव्य-ध्वनि द्वारा निरंतर हो रहा है; जिससे भव्य जीव सतत अध्यात्म-ज्ञान/आत्मा में स्थिर रहने का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव को, मिला आपसे दिव्य ज्ञान।

आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान॥८॥

पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार।

समझाया उनने समयसार, हो गए स्वयं वे समयसार॥९॥

दे गए हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार।

है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार॥१०॥

मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परिणति हो जावे समयसार।

है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जावे समयसार॥११॥

पुण्य और पवित्रता के अद्भुत भण्डार आचार्य कुंदकुंददेव को भी आपसे दिव्य/पवित्र ज्ञान की प्राप्ति हुई है। उन्होंने उसे आत्मानुभूति द्वारा प्रमाणित करके महान आनंद प्राप्त किया है। उन्होंने समयसार/सम्पूर्ण दिव्य-ध्वनि का सार शुद्धात्मा प्राप्त कर लिया है। उसे ही उन्होंने अपना लिया/शुद्धात्मा में ही अपनत्व स्थापित कर वे स्वयं उस रूप ही ज्ञानानंदमय सम्यक्त्नत्रय-सम्पन्न हो गए हैं। उन्होंने शुद्धात्मा के प्रतिपादक समयसार ग्रंथ की रचना करके, उस समयसार को अन्य भव्य जीवों के लिए समझाया है। वे हमें शुद्धात्मा का स्वरूप बताने वाले उस समयसार को दे गए हैं। हम भी आज उसके माध्यम से समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा के गीत गा रहे हैं।

वास्तव में यह समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा तथा इसके आश्रय से व्यक्त होनेवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय सम्यक्त्नत्रय रूप व्यक्त समयसार ही समयसार का/सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी का/दिव्य-ध्वनि का एक मात्र सार है। इस समयसार के सिवाय शेष सभी असार/निःसार/

व्यर्थ है। मैं भी स्वभाव से आपके ही समान समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा हूँ। इसके आश्रय से मेरी परिणति भी आपके ही समान समयसारमय हो जाए। हे प्रभो ! मेरी एक मात्र यही इच्छा है तथा इसी मार्ग पर चल रहा हूँ, जिससे मेरा जीवन भी समयसारमय हो जाए।

समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं।

महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी॥१२॥

वास्तव में एक मात्र समयसार-स्वरूप शुद्धात्मा ही सार है, सम्पूर्ण दिव्य-ध्वनि का प्रतिपाद्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सारभूत नहीं है। हे समयसारमय सीमंधर भगवान ! आपकी महिमा अपरंपार/अनंत/असीम है। मैं उसे कहने में समर्थ नहीं हूँ; अतः मैं तो मात्र अपने परिणामों की पवित्रता के लिए आपकी पूजन कर रहा हूँ।

ॐ

श्री सीमंधर स्तुति

हे सीमंधर भगवान शरण ली तेरी, बस ज्ञाता-दृष्टा रहे परिणती मेरी.....।।टेक।।
निज को बिन जाने नाथ फिरा भव वन में, सुख की आशा से झपटा उन विषयन में।
ज्यों कफ में मकखी बैठ पंख लिपटावे, तब तड़फ-तड़फ दुख में ही प्राण गमावे ॥
त्यों इन विषयन में मिली, दुखद भवफेरी, बस ज्ञाता-दृष्टा... ॥१ ॥
मिथ्यात्व रागवश दुखित रहा प्रतिपल ही, अरु कर्मबंध भी रुक न सका पल भरभी।
सौभाग्य आज हे प्रभो तुम्हें लख पाया, दुख से मुक्ति का मार्ग आज मैं पाया ॥
हो गई प्रतीति न रही मुक्ति में देरी, बस ज्ञाता-दृष्टा... ॥२ ॥
सार्थक सीमंधर नाम आपका स्वामी, सीमित निज में हो गए आप विश्रामी।
करते दर्शन कर भव सीमित भवि प्राणी, फिर आवागमन विमुक्त बनें शिवगामी ॥
चिरतृप्ति प्रदायक शान्त छवि प्रभु तेरी, बस ज्ञाता-दृष्टा... ॥३ ॥
आत्माश्रय का फल आज प्रभो लख पाया, निज में रमने का भाव मुझे उमगाया।
निज वैभव संमुख तुच्छ सभी कुछ भासा, दर्शन से पलट गया परिणति का पासा ॥
चैतन्य छवि अन्तर में आज उकेरी, बस ज्ञाता-दृष्टा... ॥४ ॥
हे ज्ञायक के ज्ञायक चैतन्य विहारी, मैं भाव वंदना करूँ परम उपकारी।
अपनी सीमा में रहूँ यही वर पाऊँ, प्रभु भेद भक्ति तज, निज अभेद को ध्याऊँ ॥
अब अन्तर में ही दिखे मुझे सुख ढेरी, बस ज्ञाता-दृष्टा... ॥५ ॥

निज सीमा में रहते प्रभु तुम वस्तु-सीमा दिखलाते हो।

हे सीमंधर निज सीमा में रहने का भाव सिखाते हो।

पाठ २ : सात तत्त्वों संबंधी भूलें

प्रश्न १ : आचार्य-कल्प पण्डित टोडरमलजी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए?

उत्तर : आचार्य-कल्प पण्डित टोडरमलजी, राजस्थान प्रान्त के, जैनियों की काशीरूप में प्रसिद्ध जयपुर नगर के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों में से एक हैं। आपका अधिकांश जीवन, राजस्थान की राजधानी जयपुर में ही व्यतीत हुआ था; तथापि कुछ समय आपको आजीविका के लिए सिंघाणा में भी रहना पड़ा था। वहाँ आप दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

सरस्वती माँ के वरद पुत्ररूप आपका काल अठारहवीं सदी माना जाता है। आपने लगभग विक्रम संवत् १७७६-७७ के आसपास मनुष्य पर्याय को धारण किया था तथा विक्रम संवत् १८२३-२४ के आसपास उसे छोड़ दिया था। आपके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रंभा देवी था। आपके हरिश्चन्द्र और गुमानीराम नामक दो पुत्र थे। गुमानीराम तो आपके समान ही विचक्षण बुद्धि के धनी, क्रांति-कारी सुपुत्र थे। उनके नाम से गुमानी-पंथ नामक शैली भी प्रचलित रही है।

खण्डेलवाल जाति के गोदिका-गोत्र के नर-रत्न पं. टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा एक आध्यात्मिक तेरा-पंथ शैली में हुई थी। अगाध विद्वत्ता तो आपने अपने कठोर श्रम और प्रतिभा के बल पर ही प्रगट की थी; बाद में उसे आपने सहृदयता से अन्य लोगों में वितरित भी किया है। आप प्रतिभा-संपन्न, मेधावी और अध्ययन-शील व्यक्तित्व के धनी थे। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त आपको कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। वि.सं. १८२१ की इंद्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में आपके संबंध में ब्र.रायमलजी लिखते हैं—“ऐसे महंत बुद्धि के धारक पुरुष, इस काल विषै होना दुर्लभ हैं; तातें यासूँ मिलें सर्व संदेह दूर होय हैं।”

आपका जीवन-काल, भारत के संक्रांति-कालीन युग का काल था। उस समय राजनीति में अस्थिरता, सम्प्रदायों में तनाव, साहित्य में शृंगार, धार्मिक-क्षेत्र में रूढ़ीवाद, आर्थिक-जीवन में विषमता,

सामाजिक-जीवन में आडम्बर इत्यादि सभी कुछ अपनी चरम सीमा पर था। इन सबसे पण्डितजी को संघर्ष करना था। जो उन्होंने डटकर किया, प्राणों की बाजी लगाकर भी किया।

पण्डित टोडरमलजी गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक सत्पुरुष थे। वे स्वभाव के सरल, संसार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययन-शील, प्रतिभावान, बाह्याडम्बर-विरोधी, दृढ़-श्रद्धानी, क्रांति-कारी, सिद्धांतों की कीमत पर कभी नहीं झुकनेवाले, आत्मानुभवी, लोक-प्रिय प्रवचनकार, सिद्धांत ग्रंथों के सफल टीकाकार, परोपकारी, प्रामाणिक महा-मानव थे।

आपने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ रचीं हैं। जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण और पाँच हजार पृष्ठों के आस-पास हैं। इनमें से कुछ मौलिक और कुछ भाषा-टीकारूप हैं। मौलिक रचनाओं में मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार पूजन और समवसरण रचना वर्णन—ये चार सर्व-मान्य हैं। टीका रचनाओं में पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय भाषा-टीका, आत्मानुशासन भाषा-टीका, त्रिलोकसार भाषा-टीका तथा सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका भाषा-टीका प्रसिद्ध हैं। सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका; गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार भाषा टीका और अर्थसंदृष्टि अधिकार का संग्रह है।

इसप्रकार आपकी कृतिआँ गद्य-पद्य दोनों ही शैलियों में उपलब्ध हैं। इनका काल-क्रमानुसार विभाजन इसप्रकार है—

क्रम	कृतिआँ	समय	विक्रम संवत् में
१.	रहस्यपूर्ण चिट्ठी		वि.सं. १८११
२.	गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा-टीका	सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका	वि.सं. १८१८
३.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा-टीका		
४.	अर्थसंदृष्टि अधिकार		
५.	लब्धिसार भाषा-टीका		
६.	क्षपणासार भाषा-टीका		
७.	गोम्मटसार पूजन		
८.	त्रिलोकसार भाषा-टीका		
९.	समवसरण रचना वर्णन		

१०. मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक (अपूर्ण)

११. आत्मानुशासन भाषा टीका

१२. पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय भाषा-टीका (अपूर्ण)—इसे पं. दौलतरामजी कासलीवाल ने वि.सं.१८२७ में पूर्ण किया है।

आपकी गद्य-शैली परिमार्जित, प्रौढ़ और सहज बोध-गम्य है। आपकी शैली का सुन्दरतरमरूप आपके मौलिक ग्रन्थ मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक में देखने को मिलता है। आपकी भाषा मूलरूप से ब्रज होते हुए भी उसमें खड़ी बोली का खड़ापन तथा साथ ही स्थानीय ढूँढ़ारी भाषा की रंगत भी विद्यमान है। आपकी भाषा आपके भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ व परिमार्जित है। आपके संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए 'डॉ. हुकमचंद भारिल्ल' द्वारा लिखित शोध-प्रबंध 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व-कर्तृत्व' का अध्ययन करना चाहिए।

आपका मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक ग्रंथ अध्यात्म-गर्भित आगम शैली की अद्भुत रचना है; अनादि-कालीन मिथ्या मान्यताओं को जड़-मूल से नष्टकर, सम्यक् मोक्ष-मार्ग का दिशा-निर्देश करने में पूर्ण सक्षम है। अपूर्ण होते हुए भी यह रचना आत्म-हित की दृष्टि से अपूर्व है। शायद इस रचना के कारण ही आपको 'आचार्य-कल्प' की उपाधि से विभूषित किया गया है।

आपका सम्पूर्ण जीवन प्राणी मात्र को धर्मानुरागमय, आत्मोन्मुखी-वृत्ति की प्रेरणा का प्रतीक है। अल्प-कालीन जीवन में की गई आपकी गंभीरतम साहित्यिक कृतिओं से प्राणी मात्र सदैव उपकृत रहेगा।

प्रश्न २ : पहले वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग दो के तीसरे पाठ में सात तत्त्वों संबंधी भूल का प्रकरण आ गया है; तब फिर उसे यहाँ पुनः क्यों लिखा गया है? उनमें और इनमें अंतर क्या है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत पदार्थों के संबंध में विपरीत मान्यता आदि रूप मिथ्यात्व, दो प्रकार का है—अगृहीत और गृहीत।

प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में अनादि से ही चली आ रहीं विपरीत मान्यताएँ आदि अगृहीत मिथ्यात्व कहलाती हैं तथा मुख्यरूप से मनुष्य गति में, उस अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करनेवाली नवीन सीखी हुई विपरीत मान्यताएँ आदि गृहीत मिथ्यात्व हैं।

पण्डित टोडरमलजी ने अपने मोक्ष-मार्ग-प्रकाशक ग्रंथ में इन दोनों का ही पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। उन्होंने अगृहीत मिथ्यात्व का चौथे अध्याय में तथा गृहीत मिथ्यात्व का पाँचवें, छठवें और सातवें—इन तीन अध्यायों में वर्णन किया है। पाँचवें अध्याय में जैनेतर गृहीत मिथ्यात्वों का, छठवें अध्याय में जैन भट्टारकीय परंपरा में प्रचलित बीसपंथ आमनाय रूप गृहीत मिथ्यात्वों का तथा सातवें अध्याय में शुद्ध तेरापंथी कहलानेवाले स्वाध्यायी जैनों के द्वारा नवीन ग्रहण किए गए विशिष्ट प्रकार के गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन किया है।

वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग दो के तीसरे पाठ में एकेंद्रिय से लेकर सैनी पंचेंद्रिय पर्यंत सभी मिथ्यादृष्टियों में अनादि से ही विद्यमान अगृहीत मिथ्यात्व का वर्णन किया गया था। ये जीव सात तत्त्वों के संबंध में क्या भूलें करते हैं—यह प्रकरण वहाँ था।

यहाँ गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन है। जो जीव जैन हैं, जिनवाणी का स्वाध्याय करते हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक हैं, जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानते हैं; तथापि अपनी अज्ञानता-असावधानी-वश इनके भी मिथ्यात्व विद्यमान रहता है। ये जीव, सात तत्त्वों के संबंध में कैसी-कैसी विपरीत मान्यताएँ रखते हैं, उन सभी का वर्णन इस पाठ में किया गया है।

कुछ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव हो सकते हैं, जिनके अगृहीत मिथ्यात्व होने से पूर्वोक्त भूलें विद्यमान होने पर भी, गृहीत मिथ्यात्व नहीं होने से प्रस्तुत पाठवाली भूलें उनके नहीं हों; परन्तु गृहीत मिथ्यात्व के साथ अगृहीत मिथ्यात्व नियम से रहने के कारण जिसके ये भूलें हैं, उसके पूर्व पठित भूलें तो नियम से हैं ही। इसप्रकार वहाँ अगृहीत मिथ्यात्व वाली सात तत्त्वों संबंधी भूलों का वर्णन किया गया था और यहाँ विशिष्ट प्रकार के गृहीत मिथ्यात्ववाली सात तत्त्वों संबंधी भूलों का वर्णन किया जा रहा है—यही इन दोनों पाठों के विषय में अंतर है।

प्रश्न ३ : जैन-शास्त्र का अध्ययन कर लेने पर भी मिथ्यात्व कैसे सुरक्षित रह जाता है ?

उत्तर : यद्यपि जिन-शास्त्र/जिन-वाणी के प्रत्येक प्रकरण में मिथ्यात्व को ही नष्ट करने का उपाय बताया गया होने से, उसका अध्ययन

करके, तदनुसार अपना जीवन बनाने से मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यक्त्व प्रगट होता ही है; तथापि यदि जिनागम का अध्ययन करनेवाला जीव, प्रयोजनभूत तत्त्वों संबंधी विपरीत अभिनिवेश/उल्टी मान्यता नष्ट नहीं करता है, उनकी यथार्थ प्रतीति/भाव-भासना नहीं करता है, तत्त्वों संबंधी भूलें नष्ट नहीं करता है तो उसका मिथ्यात्व सुरक्षित रह जाता है। जिनागम का अध्ययन कर लेने पर भी भाव-भासना के अभाव में वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो पाता है।

जिन-वाणी तो मात्र सही मार्ग बताने वाली हैं। यदि कोई उसे पढ़कर भी सही मार्ग की पहिचान नहीं कर पाए तो इसमें जिन-वाणी का क्या दोष है? उस जीव की ही अपनी अज्ञानता है। इसप्रकार जैन-शास्त्र पढ़कर भी अपनी मिथ्या मान्यताओं के कारण मिथ्यात्व सुरक्षित रह जाता है।

प्रश्न ४ : जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताएं बताइए?

उत्तर : जिनवाणी का श्रद्धान और बुद्धि के अनुसार अध्ययन आदि करनेवाला यह जीव, यद्यपि जीव-अजीव आदि के भेद-प्रभेदों को सूक्ष्मता से भी जान लेता है; तथापि उन्हें जानने का यथार्थ प्रयोजन नहीं समझ पाता है। वह इसप्रकार—

१. जिन-वाणी का स्वाध्याय करके त्रस-स्थावर आदि द्रव्य-पर्यायों/व्यंजन-पर्यायों की अपेक्षा तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि गुण/अर्थ-पर्यायों तथा व्यंजन-पर्यायों की अपेक्षा जीव के भेद-प्रभेदों को जान लेता है; अजीव के भी पुद्गल आदि जातिगत भेदों को तथा वर्ण आदि गुण-पर्याय कृत विशेषों को तो अच्छी प्रकार से समझ लेता है; परन्तु जिन कथनों से स्व-पर का भेद-विज्ञान हो सके, रागादि विकारी भावों का अभाव होकर वीतराग दशा हो जाए, उन्हें नहीं पहिचान पाता है।

त्रस, स्थावर आदि; गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि पर्यायें; जीव और पुद्गल की मिली हुई असमान-जातीय द्रव्य-पर्यायें हैं, क्षणिक हैं; मेरे विकारी परिणामों का, कर्मोदय आदि का निमित्त पाकर अपनी स्वतंत्र योग्यता से अपने समयानुसार उत्पन्न होती रहती हैं, नष्ट होती रहती हैं, मेरे प्रदेशों का आकार भी उस समय अनुरूप हुआ लगता है;

तथापि मैं इन सभी से भिन्न त्रिकाल एकरूप रहनेवाला जीव तत्त्व हूँ; इन पर्यायों के उत्पाद-विनाश से मैं उत्पन्न या नष्ट नहीं होता हूँ; यह परिवर्तित आकार भी मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाल असंख्य-प्रदेशी एक आकारवाला हूँ—इत्यादि प्रकार के भेद-विज्ञान परक कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है।

इसी प्रकार मैं त्रिकाल असंयोगी, अविनश्वर हूँ तथा ये सभी पर्यायें, संयोगी और क्षणिक हैं—इसप्रकार मेरे स्वभाव से विपरीत होने के कारण मैं ये नहीं, इन रूप नहीं, ये भी मेरे नहीं, ये मुझरूप नहीं हैं; मैं इनका कर्ता-धर्ता-हर्ता-भोक्ता भी नहीं हूँ; वास्तव में मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है। ये रहें तो रहें, जाएं तो जाएं, मेरा इनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है—इत्यादि प्रकार की भाव-भासना का अभाव होने से उनके प्रति पूर्ण निरपेक्ष भाव/वीतराग भाव पूर्वक रहने परक कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है। यह जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में इसकी विपरीत मान्यता है।

इसीप्रकार पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य और उनके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि सभी विशेष मुझसे अत्यंत पृथक् हैं; मैं भी उनसे अत्यंत पृथक् हूँ; वे मेरे लिए इष्ट-अनिष्ट या सुखदाई-दुःखदाई नहीं हैं; वे मेरे या मैं उनका कर्ता-धर्ता-हर्ता-भोक्ता आदि नहीं हूँ—इत्यादि प्रकार के भेद-विज्ञान-पोषक और वीतराग-दशा होने में कारणभूत कथनों की पहिचान नहीं कर पाता है। यह जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में इसकी विपरीत मान्यता है।

२. यदि कभी अनायास, किसी परिस्थिति-वश प्रवचन आदि सुनकर या पढ़कर उपर्युक्त जानकारी हो भी जाए तो जिनागम में ऐसा बताया गया है, जैन-धर्म ऐसा कहता है, पंच-परमेष्ठियों का ऐसा उपदेश है—इत्यादि रूप में उसे जान/समझ तो लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर, पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना तथा अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, पर्याय आदि की अपेक्षा पर से पूर्णतया पृथक् हूँ; पुद्गल आदि अन्य अजीव पदार्थ भी अपने इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र आदि सभी अपेक्षाओं से

पूर्णतया पृथक् हैं। मेरा उनके साथ या उनका मेरे साथ किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार का, कुछ भी, कभी भी संबंध नहीं है। दोनों परस्पर में पूर्णतया निरपेक्ष, स्वतंत्र, स्वसत्ता-संपन्न हैं—ऐसी वास्तविक भाव-भासना नहीं कर पाता है।

३. यही कारण है कि यह शास्त्रानुसार सही बातों का जानकार होकर भी उपर्युक्त जानकारी से रहित, अन्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के समान आत्माश्रित ज्ञानादि में और शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है। मैं जानने-देखनेवाला तत्त्व हूँ—ऐसा भी मानता रहता है तथा मैंने उपवास किया/आहार आदि का त्याग किया, उपदेश दिया, अन्य को पढ़ाया/समझाया—ऐसा भी मानता रहता है। जबकि जानना-देखना तो पूर्णतया जीव का परिणमन है तथा उपवास आदि कार्य/पेट में भोजन आदि नहीं जाना, पूर्णतया शरीररूप पुद्गल का परिणमन है; उपदेश आदि में वचन आदि निकलना, पूर्णतया भाषा वर्णारूप पुद्गल का परिणमन है; परन्तु इसे ऐसा भाव भासित नहीं होता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है।

४. कभी शास्त्रानुसार उपर्युक्त प्रकार से भी चर्चा करने लगता है; परन्तु आत्मा और शरीर की ऐसी चर्चा करता है जैसे अन्य की अन्य से चर्चा करता है। जैसे आत्मा और शरीर पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं; आत्मा, ज्ञानादि-संपन्न है; शरीर, वर्णादि-संपन्न है; आत्मा, शरीर का कर्ता-धर्ता नहीं है; शरीर, आत्मा का कर्ता-धर्ता नहीं है—इत्यादि रूप में भेद-विज्ञान की यथार्थ चर्चा तो करता है; परन्तु भाव भासित नहीं होने के कारण मैं आत्मा हूँ, मैं ज्ञानादि-सम्पन्न हूँ; मैं इस वर्णादि-संपन्न शरीरादि से पूर्णतया पृथक् हूँ; मैं इस शरीर का रंच-मात्र भी कर्ता-धर्ता नहीं हूँ—इत्यादि रूप में सम्यक् श्रद्धान नहीं कर पाता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

५. उपर्युक्त प्रकार से भाव भासित नहीं होने के कारण, पर्याय में जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त से होने वाली क्रियाओं को दोनों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है। यह जीव की क्रिया है, इसमें पुद्गल निमित्त है; यह पुद्गल की क्रिया है, इसमें जीव निमित्त है—ऐसा भिन्न-

भिन्न भाव भासित नहीं होता है। जैसे 'मैंने उपवास किया'—इसमें मैं आज भोजन आदि नहीं करूँ—ऐसा राग, मेरी विकृत क्रिया है; ऐसा ज्ञान, मेरी स्वाभाविक क्रिया है; मेरी अपनी उपादानगत योग्यता से मुझमें ये दोनों क्रियाएं हुई हैं; मेरी इन दोनों क्रियाओं में पुद्गल कर्म की उदय, क्षयोपशम आदि रूप तथा शरीर रूप पुद्गल की अवस्था निमित्त है; इसीप्रकार मुँह में/पेट में भोजन आदि नहीं जाना—यह पूर्णतया पुद्गल की क्रिया है; उसकी अपनी उपादानगत योग्यता से मुँह आदि में भोजन नहीं गया है; मैं आज उपवास करूँ—ऐसा मेरा राग और ज्ञान इसमें निमित्त है—ऐसा निमित्त-उपादानरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भाव भासित नहीं होने के कारण यह उस क्रिया को दोनों के मिलाप से हुई मान लेता है। यह इसकी जीव-अजीव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है।

इसप्रकार शास्त्राभ्यासी होने पर भी जीव-अजीव तत्त्व का भाव भासित नहीं होने के कारण जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यताएँ चलती रहती हैं; यथार्थ प्रतीति नहीं हो पाती है।

प्रश्न ४ : आस्रव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : शास्त्र-पाठी यह जीव, आस्रव तत्त्व के संबंध में इसप्रकार विपरीत मान्यता रखता है—

१. जैन-शास्त्रों को पढ़कर आस्रव के पुण्य-पाप रूप दो भेद समझ लेने से तथा पुण्य की भूमिका में निचली भूमिकावाली शुद्धता सुरक्षित रहती होने के कारण उसे कथंचित् उपादेय तथा धर्म कहा गया होने से यह मिथ्यादृष्टि जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि रूप पाप-परिणामों को हेय तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य, अपरिग्रह आदि रूप पुण्य-परिणामों को उपादेय मान लेता है;—यह इसकी आस्रव तत्त्व के संबंध में विपरीत मान्यता है; क्योंकि पुण्य हो या पाप—दोनों ही परलक्ष्यी, पराधीन परिणाम हैं; पर की स्वतंत्र, परिपूर्ण अनंत वैभव-संपन्न सत्ता को अस्वीकार कर, उसे अपने अधीन मानकर, उसमें हस्तक्षेप करने के भाव हैं; आकुलतामय, आकुलता के कारण होने से बंध के कारण हैं; अतः स्वाधीनता के इच्छुक मोक्षार्थी को पूर्णतया हेय ही हैं; एक-मात्र पूर्ण स्वरूप-लीनतामय निर्बंध-दशा ही

उपादेय है; परन्तु यह ऐसा स्वीकार नहीं कर पाता है और अज्ञानता-वश पाप को बुरा, हेय तथा पुण्य को अच्छा, उपादेय मान लेता है—यह इसकी आस्रव तत्त्व के संबंध में भूल है।

२. यद्यपि निचली भूमिका में पूर्ण स्वरूप-लीनता नहीं रह पाने के कारण तथा पाप पूर्णतया नहीं छूट पाने के कारण अधिकाधिक तीव्र आकुलता से/पाप से बचने के लिए मजबूरी-वश पुण्य-परिणामों को बुद्धि पूर्वक भी स्वीकार करना पड़ता है; आचार्यों ने भी स्वीकार करने का उपदेश/आदेश दिया है; तथापि मजबूरी को मजबूरी समझते हुए श्रद्धा में उसे हेय ही मानना चाहिए। दूसरों को मारने आदि के समान दूसरों की रक्षा आदि करने का भाव भी, दूसरों की स्वतंत्रता को खण्डित करने वाला, दूसरों की अनंत वैभव-सम्पन्न सत्ता में हस्तक्षेप करने रूप अपराध ही है; अतः उसे वास्तव में अच्छा/उपादेय मानना, महा अपराध/मिथ्यात्व है—ऐसा मानना चाहिए। यह मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा स्वीकार नहीं करता है—यह इसकी आस्रव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

३. जिनवाणी में आस्रव के मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग—ये चार भेद कहे हैं। यह इनके बाह्य स्वरूप को तो आस्रव मानता है; पर अंतरंग वास्तविक स्वरूप की पहिचान नहीं करता है। वह इसप्रकार—

अ. मिथ्यादर्शन : यह जीव कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि की सेवा-उपासनारूप गृहीत मिथ्यादर्शन को तो मिथ्यादर्शन मानता है। उसे आस्रव जानकर, बुरा मानकर छोड़ने का भी प्रयास करता है; परन्तु शरीर आदि पर-पदार्थ मैं हूँ, मेरे हैं; मैं इनका कर्ता-भोक्ता हूँ; मैं काला-गोरा, मोटा-पतला आदि रूप हूँ इत्यादि अनादि-काल से चली आई विपरीत मान्यताओं को मिथ्यादर्शन नहीं मानता है। यही कारण है कि यह अगृहीत मिथ्यादर्शन इसे आस्रव नहीं लगता है; अतः बुरा मानकर छोड़ने का प्रयास भी नहीं करता है। यह मिथ्यादर्शन संबंधी भूल है।

ब. अविरति : पाँच स्थावर और त्रसरूप षट्कायिक जीवों की हिंसा आदि रूप प्राणी असंयम को तथा पाँच इंद्रिय और मन के विषयों में

प्रवृत्तिरूप इंद्रिय असंयम को तो अविरति मानता है। इन्हें बुरा जानकर, इनसे बचने का प्रयास भी करता है; परन्तु एक भी जीव की हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा आदि प्राणी-असंयम में प्रमाद परिणति मूल है/अयत्नाचार-प्रवर्तन मुख्य है/असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का भाव, प्राणी संबंधी असंयम है—ऐसा नहीं मानता है। इसी प्रकार विषयों में प्रवृत्तिरूप इंद्रिय-असंयम में अभिलाषा मूल है; किसी भी इंद्रिय संबंधी विषय-भोग में प्रवृत्ति नहीं होने पर भी, उस विषय की इच्छा, इंद्रिय असंयम है—ऐसा नहीं मानता है। यही कारण है कि असावधानी रूप प्रवर्तन का भाव तथा भोगों की इच्छाएं बुरी नहीं लगने के कारण भेद-विज्ञान पूर्वक तत्त्वाभ्यास करके उन्हें नष्ट करने की दिशा में प्रयास भी नहीं करता है। यह इसकी अविरति संबंधी विपरीत मान्यता है।

स. कषाय : इसीप्रकार किसी प्रतिकूल प्रसंग आदि का निमित्त पाकर क्रोध आ जाना, किसी सफलता में घमंड हो जाना, कोई कार्य सीधे होता हुआ न जानकर छल पूर्वक करने का भाव आ जाना, पदार्थों को अधिकाधिक संग्रह करने का भाव रहना इत्यादि रूप में व्यक्त होने वाली बाह्य क्रोधादि कषायों को तो कषाय मानता है। इन्हें बुरा मानकर नष्ट करने की दिशा में भी प्रयास करता है; परन्तु अंदर जो राग-द्वेष चलते रहते हैं, प्रीति-अप्रीतिरूप भाव चलते रहते हैं, स्वरूप-लीनता न होकर परलक्ष्यी परिणाम चलता रहता है—यह वास्तविक कषाय है; इसकी इसे पहिचान नहीं है। यही कारण है कि उसे बुरा मानकर, नष्ट करने की दिशा में प्रयास भी नहीं करता है। यह इसकी कषाय संबंधी विपरीत मान्यता है।

द. योग : मन, वचन, काय की बाह्य चेष्टाओं/प्रवृत्तिओं को तो योग मानता है। इन्हें आस्रव मानकर, नष्ट करने का प्रयास भी करता है; परन्तु अंदर प्रति-समय चलनेवाले शक्तिभूत योगों को नहीं पहिचान पाता है। मन से पाप आदि के चिंतन को मनो-योग, वाणी द्वारा वचन बोलने को वचन-योग तथा शरीर की हलन-चलनरूप चेष्टाओं को काय-योग मानता है; परन्तु ये क्रियाएं मैं करूँ या नहीं करूँ—ऐसे भाव पूर्वक होने वाले आत्म-प्रदेशों के कम्पनरूप शक्तिभूत योग को नहीं पहिचानता। यह इसकी योग संबंधी विपरीत मान्यता है।

४. वास्तव में अंतरंग अभिप्राय में स्थित मिथ्यात्व आदि रूप रागादि भाव ही मूल आस्रव भाव हैं। त्रिकाल ज्ञानानंद-स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार नहीं करना, मिथ्यादर्शन है।

अपनी पर्याय में किसी भी प्रकार का परलक्ष्यी भाव होना, हिंसा है; स्वयं अनंत वैभव-संपन्न परम-प्रभु परमात्मा होने पर भी स्वयं को दीन-हीन-पामर मानकर प्रवृत्ति करना, असत्य है; पर-पदार्थों को अपने अधिकार में रखने का भाव या पुण्य-पाप परिणामों पर अपना अधिकार जमाने का भाव, चोरी है; त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव को विस्मृत कर पर्याय मात्र में रमण करना, कुशील है तथा पर्याय मात्र में ममत्वकर, उसे सुरक्षित रखने की भावना, परिग्रह है। इन पाँचों पापों से विरत नहीं होना, अविरति है।

स्वभाव से खींचकर/निकालकर पर में उलझानेवाले सभी भाव कषाय हैं; इत्यादि रूप में स्थित आस्रवों/भावास्रवों को तो पहिचानता नहीं है और इनका निमित्त पाकर आनेवाले कर्मों को/द्रव्यास्रवों को ही आस्रव मानता है।

इसीप्रकार कुदेवादि के सेवन आदि रूप बाह्य प्रवृत्तियों को तो मिथ्यादर्शन आदि मानता है; परन्तु पूर्वोक्त अंतरंग मिथ्यादर्शन आदि को नहीं पहिचानता है। यही कारण है कि इन वास्तविक मिथ्यादर्शन आदि को तो नष्ट करने का उपाय नहीं करता है, कुदेवादि सेवन रूप बाह्य प्रवृत्तिमय मिथ्यात्वादि को छोड़ने मात्र से ही सम्यक्त्वी बनने का प्रयास किया करता है। यही इसकी आस्रव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ५ : बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : इस शास्त्र-स्वाध्यायी जीव ने जिनवाणी पढ़कर नरक आदि गति संबंधी लौकिक प्रतिकूलताएं जानकर उन्हें बुरा मान लिया है तथा देव आदि गति संबंधी लौकिक अनुकूलताएं जानकर उन्हें अच्छा मान लिया है। हिंसा आदि अशुभ भावों से पाप का बंध होता है, जिसके फल में नरकादि गतिओं रूप दुःख की सामग्री मिलती है तथा अहिंसा आदि शुभ-भावों से पुण्य का बंध होता है, जिसके फल में देवादि गतिओं रूप सुख की सामग्री मिलती है।

ऐसा जानकर यह जिनवाणी का स्वाध्याय नहीं करनेवाले जीवों के समान, दुःख की निमित्तभूत सामग्री को दुःखमय मानकर उससे द्वेष करने लगता है तथा सुख की निमित्तभूत सामग्री को सुखमय मानकर उससे राग करने लगता है। जैसे वर्तमान पर्याय संबंधी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करता है; उसीप्रकार आगामी पर्याय संबंधी सुख-दुःख सामग्री में राग-द्वेष करता है तथा उसके कारणभूत पुण्य-पाप कर्म के बंध को भला-बुरा मानता है।

वास्तव में कोई भी सामग्री सुख-दुःख की कारण नहीं होने से, उस सामग्री की प्राप्ति में निमित्त होनेवाले पुण्य-पापरूप कर्म के बंध, भले-बुरे नहीं हैं; वरन् बंधमय होने से सभी बुरे/हेय ही हैं; इनमें भले-बुरे का भेद करना ही बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

दूसरी बात यह भी है कि शुभ-अशुभ भावों से पुण्य-पाप का भेद तो मात्र अघाति-कर्मों में होता है; परन्तु वे आत्म-गुण के घातक नहीं हैं। आत्म-गुण के घातक, पूर्णतया पापमय घाति-कर्म तो शुभ-अशुभ सभी भावों से सतत बंधते रहते हैं; अतः पुण्य-बंध को अच्छा मानने का अर्थ है उसके साथ ही नियम से बंधनेवाले पापमय घाति-कर्मों को अच्छा मानना। यही बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

इसमें एक तथ्य यह भी है कि देव, मनुष्य और तिर्यच आयुष्क को छोड़कर शेष सभी पुण्य-पाप प्रकृतिओं का स्थिति बंध, पापरूप ही है। पुण्य-पाप का भेद तो अनुभाग आदि की अपेक्षा है। संसार का मूल कारण स्थिति बंध है; अतः पापमय स्थिति बंध के कारणभूत शुभ भावों को, अशुभ भावों के समान बुरा नहीं मानना, बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

वस्तु स्थिति तो यह है कि शुभ-अशुभ दोनों ही परिणामों से सतत बंधते रहनेवाले, अनुजीवी-गुणों के घातक तथा पूर्णतया पापमय ही घाति कर्म, वे कर्म हैं, जिनके नष्ट हुए विना अघाति-कर्म का तीव्र पुण्योदय भी जीव को सुखी नहीं कर सकता है। यही कारण है कि घाति-कर्म का उदय रहते अघाति-कर्म का कैसा भी उदय कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है; परन्तु यदि स्वरूप-लीनता के बल पर घाति-कर्म नष्ट हो जाते हैं तो अघाति-कर्म की विद्यमानता में भी

जीव अनन्त-चतुष्टय-सम्पन्न अरहंत परमात्मा हो जाता है; अतः जिन परिणामों से घाति कर्म भी बँधते हैं, उन परिणामों से बँधनेवाले पुण्य कर्म को अच्छा मानना, बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

यद्यपि पूर्ण स्वरूप-लीन नहीं रह पाने पर तीव्र आकुलता से बचने के लिए मजबूरी-वश मंद आकुलतामय शुभ-भावों में रहना, अच्छा है; नरकादि गतिओं में तीव्र प्रतिकूलता भोगने की अपेक्षा देवादि गतिओं में कम प्रतिकूलता भोगना, अच्छा है। जिनवाणी में भी तीव्र कषाय से बचने के लिए मंद कषाय में रहने का उपदेश भी है; तथापि मजबूरी को मजबूरी नहीं मानकर; सभी कषायमय भावों को अशुद्ध, दुःखमय, हेय, बंध के कारण नहीं मानकर यदि उनमें अच्छे-बुरे का भेद किया जाता है तो यही वृत्ति, बंध तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ६ : संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : शास्त्र-स्वाध्यायी इस जीव की संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता इसप्रकार है—

निचली भूमिका में वीतराग परिणामों का निमित्त और सहचारी होने से वीतरागता रूप संवर परिणामों के साथ रहनेवाले अहिंसा आदि रूप शुभ-भावों को भी उपचार से संवर या धर्म जिनागम में कहा गया है। यह शास्त्र-स्वाध्यायी जिनागम का अभिप्राय नहीं समझ पाने के कारण इन शुभ-भावों को ही संवर मान लेता है। यह इतना भी विचार नहीं कर पाता है कि जिन भावों से पुण्य कर्मों का बंध होता है, उन्हीं भावों से कर्मों का संवर/आस्रव का रुकना कैसे हो जाएगा ? यद्यपि अंतरात्मा रूप साधक की निचली दशा में भूमिकानुसार शुभ-अशुभ और शुद्ध का मिश्रण चारित्र गुण की पर्याय में पाया जाता है; तथापि उसमें भी उस शुभ-अशुभ भाव रूप अंश से कर्मों का आस्रव-बंध ही होता है; संवर तो उस शुद्ध-भावरूप अंश से ही है, अशुद्ध-भाव से नहीं है। यह तथ्य समझ में नहीं आने के कारण शुभ-भाव में संवर के भ्रम से यह उन प्रशस्त-राग रूप शुभ-भावों/क्रियाओं को उपादेय मानता है—यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

२. जिनवाणी में संवर के गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र आदि अनेक कारण कहे हैं। यह उनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता है। जैसे—

गुप्ति : मन में पाप-चिंतन नहीं करके मन की चेष्टा मिटाकर, मौन धारण कर वचन की चेष्टा मिटाकर तथा हलन-चलन आदि नहीं कर काय की चेष्टा मिटाकर इत्यादि रूप में मन, वचन, काय की बाह्य चेष्टाएं मिटाने को गुप्ति मानता है; परन्तु उस समय मन में भक्ति आदि रूप विविध प्रशस्त विचार तो चल रहे हैं, मन का निग्रह कहाँ हुआ ?

इसी प्रकार बुद्धि पूर्वक वचन और काय की चेष्टा रोकना तो शुभ-भाव और शुभ-प्रवृत्ति है, इनमें वचन और काय का निग्रह कहाँ हुआ ? गुप्ति, पर-प्रवृत्तिरूप नहीं है। स्वरूप-लीनता रूप वीतराग-भाव होने पर मन-वचन-काय की प्रवृत्ति स्वयमेव रुक जाना/योगों का भली-भाँति निग्रह हो जाना, वास्तविक गुप्ति है। इसकी पहिचान नहीं होने के कारण यह मन-वचन-काय की प्रशस्त प्रवृत्ति को गुप्ति मान लेता है—यह इसकी गुप्ति के संदर्भ में विपरीत मान्यता है।

समिति : गमन आदि क्रिया करते समय अन्य जीवों की रक्षा के लिए होनेवाली यत्नाचार रूप प्रवृत्ति को यह जीव समिति मान लेता है; परन्तु यह इतना विचार नहीं कर पाता है कि अन्य को मारने आदि के भाव से पाप-बंध होता है और रक्षा का भाव, समिति रूप संवरमय धर्म है तो पुण्य-बंध किससे होगा ?

दूसरी बात यह है कि समिति के तो पाँच भेद जिनवाणी में बताए गए हैं। इनमें से चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलनेरूप ईर्या समिति में, हित-मित-प्रिय वचन बोलनेरूप भाषा समिति में, पीछी-कमण्डलु-शास्त्र आदि उपकरण देख-शोधकर उठाने-रखनेरूप आदान-निक्षेपण समिति में और निर्जन्तुक भूमि देखकर मल-मूत्र आदि क्षेपण करनेरूप उत्सर्ग/प्रतिष्ठापना समिति में तो प्रवृत्ति, जीव-रक्षा के लिए है; परन्तु छ्यालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर आहार लेनेरूप एषणा समिति में प्रवृत्ति तो जीव-रक्षा के लिए नहीं होती है; एक मात्र निरीह-वृत्ति और शरीर के प्रति निर्ममत्व की मुख्यता से भोजन का भाव समाप्त हो जाने के कारण

होती है; तब फिर इसे समिति कहना, कैसे संभव हो सकेगा?

वास्तव में तो मुनिराजों के मिथ्यात्व और तीन चौकड़ी कषाय का अभाव हो जाने से व्यक्त वीतरागता के साथ शेष रहीं संज्वलन चतुष्क आदि कषायों के उदय में गमन आदि क्रिया होने पर भी, उनमें तीव्र आसक्ति नहीं होने के कारण प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती है; अन्य जीवों को दुःखीकर अपना गमन करने आदि रूप कार्य करने का भाव उनके नहीं होने से स्वयमेव दया पल जाती है—यह वास्तविक समिति है; अतः पर-जीवों की रक्षा के लिए यत्नाचार रूप प्रवृत्ति करने को समिति मानना, समिति के संबंध में विपरीत मान्यता है।

धर्म : पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, इच्छा के विरुद्ध कार्य आदि हो जाने से उन पर क्रोधादि करने का अभिप्राय विद्यमान होने पर भी; 'यदि मैं क्रोधादि करूँगा तो सभी मुझे यहाँ बुरा कहेंगे, नरकादि रूप पाप का बंध भी होगा, जिसका उदय आने पर पर-भव में भी दुःख भोगना पड़ेगा तथा यदि मैंने क्रोधादि नहीं किए तो यहाँ भी सभी अच्छा कहेंगे तथा आगे भी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होगी'—ऐसा विचारकर पाप बंध आदि के भय से और स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करने को धर्म मानता है; पर वास्तव में इसके क्रोधादि नष्ट नहीं हुए हैं, अंदर तो विद्यमान हैं; मात्र बाहर व्यक्त नहीं हुए हैं; तथा फल तो अंतरंग परिणामों का मिलता है, बाह्य शरीर आदि की क्रिया का नहीं मिलता है; अतः मात्र बाहर में क्रोधादि व्यक्त नहीं होने से कोई धर्मात्मा नहीं हो जाता है; अंतरंग में क्रोधादि करने का अभिप्राय नष्ट होने पर धर्मात्मा होता है।

वास्तव में तो पदार्थ इष्ट-अनिष्ट लगने से क्रोधादि होते हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझने से, स्व-पर का यथार्थ भेद-विज्ञान हो जाने से जब कोई भी पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं लगता है; तब स्वयमेव क्रोधादि उत्पन्न ही नहीं होते हैं; उत्तम क्षमा आदि हो जाते हैं, जीवन सम्यक्त्वनत्रय-सम्पन्न अहिंसक धर्ममय हो जाता है। इस शास्त्राभ्यासी को इसकी पहिचान नहीं है। यह इसकी धर्म के संबंध में विपरीत मान्यता है।

अनुप्रेक्षा : शरीर आदि बाह्य संयोग अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःख-

दाई हैं, मलिन हैं इत्यादि रूप में शरीर आदि संयोगों का स्वभाव जानकर, उनसे उदास होने को अनुप्रेक्षा मानता है; परन्तु यह वास्तविक अनुप्रेक्षा नहीं है, वरन् उनके प्रति द्वेष भाव है। शास्त्र-अभ्यास आदि से पूर्व इन संयोगों को स्थाई, शरणभूत, सुखमय/सुख-दायक, अच्छे समझकर उनमें राग करता था और अब शास्त्र-अभ्यास करके उन्हें अनित्य आदि रूप समझकर उनमें द्वेष करने लगा। यहाँ वीतराग-भाव कहाँ रहा ? यदि शरीर आदि संयोग अनित्य आदि रूप नहीं होते, तो क्या उनके प्रति उदासीन नहीं होता ? यदि परिवार-कुटुम्बीजन स्वार्थ के सगे नहीं होते, निःस्वार्थ भाव से सेवा-शुश्रूषा करते तो क्या उनके प्रति उदासीन नहीं होता ? इससे लगता है कि इसकी उदासीनता द्वेष-परक है, वीतरागता-परक नहीं है।

अपने और शरीर आदि संयोगों के वास्तविक स्वभाव को पहिचानकर, उन्हें अपने से पूर्णतया भिन्न जानकर, पर-पदार्थों को अपना या भला-बुरा माननेरूप भ्रम को मिटाकर, उनकी अपने अनुकूल प्रवृत्ति होने पर भी उनके प्रति राग नहीं करना तथा उनकी अपने प्रतिकूल प्रवृत्ति होने पर भी द्वेष नहीं करना, उन्हें अपने से पूर्णतया पृथक् मानकर उनके प्रति उदासीन भाव बड़ाने के लिए अनित्यता आदि का चिंतन करना, वास्तविक अनुप्रेक्षा है। इसे इसकी पहिचान नहीं है, यही इसकी अनुप्रेक्षा के संबंध में विपरीत मान्यता है।

परिषहजय : यह शास्त्र-अभ्यासी भूख-प्यास आदि कष्ट होने पर, उन्हें नष्ट करने के उपाय नहीं करने को परिषहजय मानता है; परन्तु भले ही इन्हें नष्ट करने का उपाय नहीं किया, पर ये परिस्थितिआँ अनिष्ट हैं, दुःख-दाई हैं—ऐसी मान्यता तो बनी ही रही तथा भूख आदि से दुखी भी होता रहा है; तब यह परिषह सहना कहाँ हुआ ? यह तो अनिष्ट संयोगज आर्त-ध्यान हुआ; इसीप्रकार प्रीति आदि की कारणभूत अनुकूल परिस्थितिआँ बनने पर सुखी होना तो परिग्रहानन्दी रौद्र-ध्यान है, परिषहजय/संवर नहीं है। मैं अपने से पृथक् सम्पूर्ण पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक् हूँ। मेरे सुख-दुःख इन सभी से पूर्णतया निरपेक्ष मेरे परिणामों के ही आश्रित हैं। जगत का अन्य कोई भी पर-पदार्थ रंच-मात्र भी सुख-दुःख का कारण नहीं है।—वस्तु के इस वास्तविक स्वरूप

का निर्णयकर, यथार्थ स्व-पर भेद-विज्ञानकर, दुःख के कारण मिलने पर भी दुःखी नहीं होते हुए तथा सुख के कारण मिलने पर भी सुखी नहीं होते हुए, समस्त पर-पदार्थ रूप ज्ञेयों के प्रति मात्र सहज ज्ञाता-दृष्टारूप बने रहना, सहज समता भाव रखना, परिषहजय है। यह परिषहजय का ऐसा स्वरूप नहीं समझ पाता है, यही इसकी परिषहजय संबंधी विपरीत मान्यता है।

चारित्र : जिनवाणी का स्वाध्याय करनेवाला यह जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि रूप सावद्य-योग/पाप-क्रियाओं के त्याग को चारित्र मानता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रहरूप महा-व्रतादिमय शुभ-योग को उपादेय मानता है, चारित्र मानता है; परन्तु तत्त्वार्थसूत्र आदि जिनवाणी में अणुव्रत-महाव्रत को शुभास्रव कहा है; ये मंद कषायरूप परिणाम पराश्रित हैं, बंध के कारण तथा बंधमय हैं; चारित्र तो इससे विरुद्ध निष्कषायमय, स्वाधीन, मोक्ष का कारण तथा मोक्षमय है; तब फिर पाप आदि के त्यागरूप, शुभ-भावमय व्रत आदि, चारित्र कैसे हो सकते हैं ?

यद्यपि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि तीन चौकड़ी कषाय के अभाव में व्यक्त हुई उदासीन-भावरूप वीतरागता-सम्पन्न मुनिराज के संज्वलन आदि कषायों के उदय में अटूठाईस मूलगुण आदि के पालनरूप प्रशस्त-राग प्रगट होता है; पूर्ण स्वरूप-लीन रहने में समर्थ नहीं होने के कारण वे इसमें प्रवृत्त भी होते हैं; तथापि वे इसे चारित्र का मल/दोष ही जानते हैं, हिंसा आदि तीव्र कषायरूप परिणामों से बचने के लिए मजबूरी-वश अपनाया गया उपाय मानते हैं; बंध का कारण, बंधमय होने से तथा कर्म-कृत परिणाम होने के कारण हेय मानते हैं, उसे मोक्ष-मार्ग नहीं मानते हैं।

वीतरागतारूप वास्तविक चारित्र के निमित्त या सहचारी होने से यद्यपि जिनवाणी में भी महा-व्रत आदि शुभ-भावों को उपचार से चारित्र कहा है; तथापि वे वास्तव में तो मंद कषायरूप परिणाम होने से आस्रव, बंधरूप ही हैं, चारित्ररूप संवर नहीं हैं। चारित्ररूप संवर तो एक-मात्र निःकषाय भावरूप वीतरागता/स्वरूप-लीनता ही है। यह इसे नहीं पहिचानता है; यही इसकी चारित्र संबंधी विपरीत मान्यता है।

इसप्रकार निचली भूमिका में व्यक्त वीतरागता के निमित्त या सहचारी होने से, आस्रव-बंधरूप जिन शुभ-भावों को उपचार से संवर कहा गया था; यह शास्त्र-अभ्यासी उन्हें ही वास्तविक संवर मान लेता है; वीतरागतारूप वास्तविक संवर को नहीं पहिचानता है—यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ७ : निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए?
उत्तर : अपने ज्ञानानंद-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही स्थिरता से जो वीतरागता की वृद्धि होती है, क्रमशः अशुद्धि नष्ट होती जाती है, तदनुसार ही शुद्धि बढ़ती जाती है तथा इसका निमित्त पाकर पूर्व-बद्ध कर्म भी क्रमशः खिरते जाते हैं—इस स्थिति को निर्जरा कहते हैं। अनंत वैभव-संपन्न अपने भगवान आत्मा में संतुष्टि/तृप्ति के बल पर पर-पदार्थों संबंधी इच्छाओं का निरोधरूप तप इस निर्जरा का मुख्य कारण है। इस तप के अनशन आदि बारह भेद हैं।

निचली दशा में उन सभी में वीतरागता और सरागता रूप मिश्र-भाव विद्यमान रहता है। तदनुसार तप के उन सभी भेदों में अंतरंग और बहिरंग क्रियाएं भी होती हैं। यह शास्त्राभ्यासी, जिनवाणी से उनकी बहिरंग क्रियाओं को जानकर उन्हें तो तप मानने लगता है; परन्तु वीतरागतारूप अंतरंग तप की पहिचान नहीं कर पाता है। यही कारण है कि यह अनशन आदि रूप शुभ-भाव, शुभ-क्रिया आदि को ही निर्जरा का कारण मानता है—यह इसकी निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

भोजन-पान आदि के त्यागरूप बाह्य अनशन आदि को तो बाह्य में दिखाई देने के कारण बाह्य तप कहा जाता है; परन्तु वास्तव में इस बाह्य क्रिया का कुछ भी फल, जीव को नहीं मिलता है; उसे तो अपने अंतरंग परिणामों का ही फल मिलता है। अनशन आदि और प्रायश्चित्त आदि को तप कहने का कारण तो यह है कि अनशन आदि बाह्य साधन पूर्वक प्रायश्चित्त आदि रूप प्रवर्तन करके वीतराग भावरूप सत्य तप का पोषण किया जाता है। यह वीतराग भाव स्वयं निर्जरारूप है—इसकी पहिचान नहीं होना ही निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत

मान्यता है।

निचली भूमिका में ज्ञानीजन भी यद्यपि इन तपों रूप प्रवृत्ति करते हैं; तथापि उनके उपवास आदि की इच्छा नहीं है। वे तो एक-मात्र स्वरूप-लीन रहना चाहते हैं, शुद्धोपयोग चाहते हैं। यदि उपवास आदि करने से शुद्धोपयोग बढ़ता है तो उपवास आदि करते हैं और यदि उपवास आदि से शरीर या परिणामों की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग शिथिल होता है तो आहार आदि ग्रहण करते हैं; पर तप तो अंतरंग परिणामों की शुद्धता को ही मानते हैं, उससे ही निर्जरा होती है। इसे नहीं पहिचानने-वाले के निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता विद्यमान है।

अनशन आदि रूप और प्रायश्चित्त आदि रूप बाह्य प्रवृत्ति होने पर अंतरंग परिणामों की शुद्धता होने के कारण, उन बाह्य प्रवृत्तियों को भी उपचार से तप/निर्जरा का कारण कहा जाता है; तथापि उन्हें ही वास्तव में तप/निर्जरा का कारण मान लेना, निर्जरा तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ८ : मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : समस्त पर-पदार्थों, विकारी-भावों, भेद-भावों से रहित; अनंत-वैभव-सम्पन्न अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा का पर्याय में पूर्ण प्रगट हो जाना, मोक्ष है। मोक्ष के इस वास्तविक स्वरूप को नहीं पहिचानने से यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि—

१. जन्म-मरण-रोग-क्लेश आदि दुःख दूर होना, अनंत-ज्ञान द्वारा लोकालोक की जानकारी हो जाना, त्रिलोक-पूज्यपना हो जाना, मोक्ष है। यद्यपि स्वात्मा की परिपूर्ण अभिव्यक्ति हो जाने से मोक्ष में ये सभी विशेषताएं भी होती हैं; पर वास्तव में ये सभी मोक्ष-दशा नहीं, मोक्ष-दशा के प्रतिफल हैं, उसे पहिचानने के स्थूल चिन्ह हैं। यह शास्त्र-स्वाध्यायी जीव अन्य भोले जीवों के समान इन विशेषणों से ही मोक्ष की महिमा मानता है—यह इसकी मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

२. यह जीव, स्वर्ग-सुख और मोक्ष-सुख की जाति भी समान मानता है। इसका ऐसा अभिप्राय है कि स्वर्ग में जितना सुख है, उससे अनंत गुणा अधिक सुख, मोक्ष में है; परन्तु स्वर्ग में तो इंद्रिय-

जनित, विषय आदि सामग्री के अधीन, बाधा-सहित, कर्म-बंध का कारणभूत, अतृप्ति-कारक, कषायमय, आकुलतामय, हीनाधिकता-सहित सापेक्ष सुख है, वास्तव में तो वह दुःख की कमी रूप सुखाभास है; तथा मोक्ष-सुख तो पूर्णतया अतींद्रिय, विषय आदि सामग्री से पूर्णतया निरपेक्ष, अव्याबाध, कर्म-बंध से रहित, परम संतुष्टि-कारक, वीतरागतामय, निराकुल, अनंत काल पर्यंत भी एकरूप ही रहनेवाला है—इसप्रकार ये दोनों सुख पूर्णतया पृथक्-पृथक् हैं। यह इस स्वभावगत पृथक्ता को नहीं पहिचानता है—यह इसकी मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

३. यह स्वर्ग-सुख और सिद्ध-सुख की प्राप्ति का कारण भी एक ही मानता है। इसका ऐसा अभिप्राय है कि जिस धर्म-साधन का फल स्वर्ग है, उसी धर्म-साधन का फल मोक्ष है; अंतर मात्र इतना है कि जिसके धर्म-साधन कम होता है, वह स्वर्ग प्राप्त करता है और जिसके धर्म-साधन समग्र/परिपूर्ण होता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु इसकी यह विपरीत मान्यता है; क्योंकि—

१. स्वर्ग का कारण प्रशस्त राग है और मोक्ष का कारण वीतराग-भाव है। २. स्वर्ग तो कषाय की मंदतारूप शुभ-भावों से देवायु आदि कर्मों का बंध होने पर, उनके उदय में प्राप्त होता है; जबकि मोक्ष-दशा तो निष्कषायरूप परिणामों से कर्मों का पूर्णतया अभाव हो जाने पर व्यक्त होती है। ३. स्वर्ग पूर्व-कृत अपराधों की सजा भोगने का स्थान होने से उसका कारण, स्वरूप से भ्रष्टता रूप पर-लक्ष्यी भाव है; जबकि मोक्ष पूर्ण निरपराधी दशा होने से उसका कारण, परिपूर्ण स्वरूप-लीनतामय शुद्ध-भाव है। ४. स्वर्ग तो अणुव्रत, महाव्रत, शील, संयम, दया, दान, पूजा आदि विविध शुभ-भावों में से किसी भी शुभ-भाव द्वारा कोई भी मनुष्य, तिर्यच प्राप्त कर सकता है; परन्तु मोक्ष तो एक मात्र परिपूर्ण स्वरूप-लीनता द्वारा वज्रवृषभनाराच-संहनन-संपन्न शरीरवान कर्मभूमि का पुरुष ही प्राप्त कर सकता है—इत्यादि अनेकानेक रूप में दोनों के कारण पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने से, एक ही कारण से दोनों की प्राप्ति मानना, मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता है।

प्रश्न ९ : पुण्य को मुक्ति का कारण मानने में क्या आपत्ति है ? इस

मान्यता में कौन-कौन से तत्त्व संबंधी भूलें होंगी ?

उत्तर : पुण्य में पुण्य परिणामरूप शुभ-भाव, पुण्य-कर्म का बंधरूप पुण्य-बंध तथा उस बंध के उदय में प्राप्त पुण्य-सामग्री/देव-शास्त्र-गुरु का समागम इत्यादि सभी कुछ गर्भित है। इनमें से किसी भी पुण्य को मुक्ति का कारण मानने पर अनेकानेक आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा; उनमें से कुछ इसप्रकार हैं—

१. पुण्य परिणामरूप शुभ-भाव मोक्ष का कारण है तथा हिंसा आदि अशुभ-भाव पाप बंध के कारण हैं; तब फिर पुण्य बंध किससे होगा ?
२. आस्रव और बंध के पुण्यास्रव और पुण्यबंध—ये भेद नहीं बन सकेंगे।
३. जीव-भावों के शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग—ये तीन भेद नहीं बनेंगे।

४. यथाख्यात चारित्र-सम्पन्न ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यंत जीवों के पुण्य परिणाम नहीं होने से उनकी मुक्ति नहीं हो सकेगी।

५. इससे शुक्ल-ध्यान, गुणस्थान के सभी भेद तथा आत्मा के बहिरात्मा आदि तीन भेद नहीं बन सकेंगे।

६. पाप-कर्म से नरकादि गतिआँ मिलती हैं, पुण्य-कर्म से मोक्ष मिलता है, तब फिर देवादि गतिआँ किससे मिलेंगी ?

७. अभव्य जीव भी शुक्ल लेश्यामय पुण्य-परिणाम कर लेता है; तब फिर उसके दृष्टि-मोक्ष आदि चार मोक्षों में से एक भी मोक्ष क्यों नहीं है ?

८. नियामक तादात्म्य संबंधवाले कारण, कार्य में विद्यमान रहते हैं—इस न्याय से सिद्ध भगवान के पुण्य-परिणाम मानने पड़ेंगे, तब फिर सिद्ध और संसारी का भेद किस आधार से बनेगा ?

९. कारण के समान ही कार्य होता है (कारणानुविधायीनि कार्याणि)—इस न्याय के अनुसार पुण्य परिणाम पर-लक्ष्यी, पराधीन, आकुलतामय परिणाम होने के कारण उससे स्व-लक्ष्यी स्वाधीन, निराकुलतामय मोक्ष-दशा कैसे प्रगट होगी ?

१०. एक ही समान देव-शास्त्र-गुरु का समागम आदि पुण्य-सामग्री की उपस्थिति में भी पृथक्-पृथक् जीव पृथक्-पृथक् गतिआँ क्यों प्राप्त करते हैं ?

इत्यादि अनेक आपत्तियों/समस्याओं का समाधान कर पाना असम्भव है।

इसप्रकार पुण्य को मुक्ति का कारण मानने पर आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व संबंधी विपरीतताएं होंगी; जिससे सभी तत्त्वों संबंधी विपरीत मान्यताएँ आ जाएंगी।

इन सभी समस्याओं, तत्त्व संबंधी विपरीतताओं से बचने का उपाय मात्र एक ही है कि पुण्य को मुक्ति का कारण नहीं मानें; एक-मात्र वीतरागता को ही मुक्ति का कारण मानें। जहाँ कहीं जिनागम में पुण्य को मुक्ति का कारण लिखा है, उसे पूर्णतया औपचारिक व्यवहार नय का कथन समझना ही, इन समस्याओं से छूटने का एक-मात्र उपाय है।
प्रश्न १० : स्वर्ग और मोक्ष में कारण और स्वरूप की अपेक्षा भेद बताइए।

उत्तर : स्वर्ग और मोक्ष में कारण और स्वरूप की अपेक्षा अत्यधिक भेद/अंतर है। वह इसप्रकार—

स्वर्ग	(कारण की अपेक्षा अन्तर)	मोक्ष
१. इसका कारण प्रशस्त राग है।		इसका कारण वीतराग भाव है।
२. इसका कारण अपराध है।		इसका कारण निरपराधता है।
३. शुभ-भावरूप कारणों में परस्पर विविधता है।		इसका कारण त्रिकाल एकरूप है।
४. इसका कारण पर-लक्ष्यी परिणाम-रूप अशुद्धोपयोग है।		इसका कारण स्व-लक्ष्यी परिणामरूप शुद्धोपयोग है।
५. विराधक या साधक दशा इसकी कारण है।		इसकी कारण साध्य दशा है।
६. निमित्तरूप में इसका कारण पूर्व-बद्ध कर्म का उदय है।		निमित्तरूप में इसका कारण कर्म का क्षय है।
७. विशिष्ट गति या विशिष्ट संयोग भी इसके नियामक कारण हैं। जैसे तीर्थकर की माता, भोगभूमि के जीव आदि मरकर नियम से देव-गति प्राप्त करते हैं इत्यादि।		कोई गति या संयोग इसका नियामक कारण नहीं है। एक-मात्र सम्यक्त्नत्रय की परिपूर्णता ही नियामक कारण है।

इत्यादि अनेक प्रकार से कारण की अपेक्षा इन दोनों में अन्तर है।
स्वर्ग (स्वरूप की अपेक्षा अन्तर) मोक्ष

१. यह संसार दशा है।	यह संसारातीत सिद्ध दशा है।
२. यह सशरीर, सादि-सांत दशा है।	यह अशरीरी, सादि-अनंत दशा है।
३. यहाँ इंद्रिय-जन्य सुखरूप मंद आकुलता है।	यह पूर्ण निराकुल, अतीन्द्रिय आनंद-मय दशा है।
४. यहाँ जन्म-मरणादि १८ दोष हैं।	यह पूर्णतया निर्दोष है।
५. यहाँ तीनों प्रकार के कर्म हैं।	यहाँ कोई भी कर्म नहीं है।
६. ये जीव कृतकृत्य नहीं हैं।	ये जीव पूर्ण कृतकृत्य हैं।
७. इनमें गति, शरीर, परिग्रह, ज्ञान, कषाय आदि की अपेक्षा अत्यधिक असमानताएं हैं।	यहाँ आत्म-प्रदेशों की अवगाहना की असमानता के अतिरिक्त अन्य कोई भी असमानता नहीं है।
८. ये विराधक या साधक ही हैं।	ये साध्य दशा-सम्पन्न हैं।
९. यहाँ १ से ४ गुणस्थान ही हैं।	ये गुणस्थानातीत हैं।
१०. ये अचल नहीं हैं, मरणकर या शरीर-सहित भी अन्यत्र जाते हैं।	ये पूर्णतया अचल हैं।
११. आत्मा का स्वभाव इनके समान नहीं है।	आत्मा का स्वभाव इनके समान ही है।
१२. यहाँ अनेक जीवों की अपेक्षा पाँचों भाव हैं।	यहाँ मात्र क्षायिक और पारिणामिक—ये दो भाव ही हैं।

इत्यादि प्रकार से स्वरूप की अपेक्षा भी इन दोनों में अन्तर है।

नित कीजे तत्त्व-विचारा हो

आकुल रहित होय इमि निशिदिन कीजे तत्त्व विचारा हो।
को मैं कहा रूप है मेरा पर है कौन प्रकारा हो।
को भव-कारण बंध कहा को आस्रव रोकनहारा हो।
खिपत कर्म बंधन काहे सौं थानक कौन हमारा हो।
इमि अभ्यास किए पावत है परमानंद अपारा हो।
भागचंद यह सार जान करि कीजे बारंबारा हो॥आकुल...॥

“तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।”

पाठ ३ : लक्षण और लक्षणाभास

प्रश्न १ : अभिनव धर्मभूषण यति का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए?

उत्तर : जैन-न्याय की अमर रचना एक-मात्र न्यायदीपिका को रचकर जैन-न्याय-वाङ्मय के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाले अभिनव धर्मभूषण यति ने संभवतः कर्नाटक देश के विजय-नगर स्थान को अपने जन्म, साधना और समाधि से गौरवान्वित किया है। आप शक संवत् १२८० से १४१८ के आस-पास उस प्रांत को अलंकृत कर रहे थे। इसप्रकार अनेकानेक ऐतिहासिक शिलालेखों आदि के आधार पर आपका समय ईसा की चौदहवीं शती के उत्तरार्ध से ईसा की पंद्रहवीं शती के पूर्वार्ध पर्यंत माना गया है।

आपके प्रभाव और व्यक्तित्व के सूचक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आप अपने समय के बड़े ही प्रभावक और विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी जैन गुरु रहे हैं। राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित प्रथम देवराय आपके चरणों में अपना शीश झुकाया करते थे। आपने विजय-नगर के राज-घराने में जैन-धर्म की सातिशय प्रभावना की है।

जैन साहित्य में धर्मभूषण नाम के अनेक साहित्यकार हुए हैं। उन सबसे पृथक् करने के लिए आप अपने नाम के आगे ‘अभिनव’ और अंत में ‘यति’ विशेषण लगाया करते थे। कुन्दकुन्द-आम्नायी आपके गुरु का नाम वर्धमान था। यद्यपि आप दिगम्बर जैन मुनि थे; तथापि विजय-नगर के भट्टारकीय पट्ट पर आसीन होने के कारण आप ‘भट्टारक’ नाम से विश्रुत हुए।

जैन-धर्म की प्रभावना करना तो आपके जीवन का व्रत था ही; ग्रंथ-रचना के कार्य में भी आपने अपनी अद्भुत सूझ-बूझ, तार्किक शक्ति और विद्वत्ता का सुंदरतम ढंग से पूरा-पूरा उपयोग किया है। आज हमें आपकी एक-मात्र अमर रचना ‘न्यायदीपिका’ ही प्राप्त है। यद्यपि अधिकांश न्याय-ग्रंथों की भाषा दुरूह और अति-गंभीर है; तथापि प्रस्तुत न्यायदीपिका ग्रंथ की भाषा अत्यंत सुबोध और सरल संस्कृतमय है। इस रचना में आपने प्रमाण, नय आदि का संक्षिप्त परन्तु अत्यंत

विशद और तर्क-संगत वर्णन किया है।

अपने विषय-प्रतिपादन के संदर्भ में आप स्वयं लिखते हैं कि यह न्यायदीपिका नामक संदर्भ ग्रंथ मैंने बाल-बुद्धि जीवों को अत्यंत संक्षेप में स्पष्टरूप से न्याय समझाने-हेतु लिखा है। आप अपने प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षा के माध्यम से करते हैं। 'लक्षण का लक्षण' के रूप में 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्' की मीमांसा न्याय-साहित्य में आपकी एक अपूर्व देन है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक न्याय के विषयों की स्पष्ट, विशद, संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से आपकी प्रस्तुत कृति 'न्यायदीपिका' एक अनुपम रचना है। हमें न्याय-विषय का परिज्ञान करने के लिए इस ग्रंथ का गंभीरता पूर्वक अध्ययन, मनन, चिंतन अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न २ : लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य की परिभाषा बताइए?

उत्तर : इनकी परिभाषाएं इसप्रकार हैं—

लक्षण : अनेक मिली हुई वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। न्यायदीपिका नामक ग्रंथ में इसकी परिभाषा इसप्रकार दी गई है—

“व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिर्हेतुर्लक्षणम् — मिली हुई वस्तुओं को पृथक् करने का हेतु लक्षण है।”

आचार्य अकलंकदेव अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) ग्रंथ में लक्षण की परिभाषा इसप्रकार लिखते हैं—“परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्—परस्पर मिली हुई वस्तुओं में जिसके द्वारा अन्यता/पृथक्ता देखी जाती है, वह लक्षण है।”

लक्ष्य : जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, जिसकी पहिचान की जा रही है, वह लक्ष्य कहलाता है।

जैसे संख्या की अपेक्षा अनंतानंत और जाति की अपेक्षा छह द्रव्यों के साथ रहनेवाले अपने जीव को यदि हम पहिचानना चाहते हैं तो 'उपयोग/जानना-देखना' लक्षण से पहिचानते हैं; अर्थात् जो उपयोग-स्वभावी है, उसे जीव कहते हैं। इसमें उपयोग, लक्षण है और जीव,

लक्ष्य है।

निष्कर्ष यह है कि पहिचानने के कार्य में हम जिसकी पहिचान कर रहे हैं, वह लक्ष्य तथा जिससे पहिचान कर रहे हैं, वह लक्षण कहलाता है।

यद्यपि अन्यत्र लक्ष्य शब्द का उद्देश्य, एकाग्रता, ध्यान का ध्येय, केन्द्र-बिन्दु इत्यादि अर्थों में भी प्रयोग किया गया है; परन्तु उन्हें यहाँ नहीं लेना। अनेकार्थवाची शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाना, उचित है।

अलक्ष्य : लक्ष्य से भिन्न सभी पदार्थ उस समय अलक्ष्य कहलाते हैं। जिसकी हम पहिचान करना चाह रहे हैं, उसे छोड़कर शेष सभी पदार्थ, अलक्ष्य हैं। वास्तव में लक्ष्य और अलक्ष्य किसी वस्तु के नाम नहीं हैं; वरन् लक्षण की अपेक्षा उसके आरोपित नाम हैं; अतः प्रयोजन-वश पदार्थ, लक्ष्य या अलक्ष्य कहलाते रहते हैं।

प्रश्न ३ : लक्षण तथा लक्षण के लक्षण को जानना क्यों आवश्यक है?

उत्तर : अनंत वैभव-संपन्न प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसी शक्तिआँ हैं, जो सभी में साधारण/समान हैं तथा कुछ ऐसी शक्तिआँ हैं, जो अन्य से असाधारण हैं/सभी में नहीं हैं। इन साधारण और असाधारण शक्ति-संपन्न प्रत्येक वस्तु को अनंतानंत वस्तुओं के साथ इस असंख्य प्रदेशी लोक में ही रहने की व्यवस्था होने से एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहना होता है। ऐसी स्थिति में लक्षण के विना किसी वस्तु को जानना-पहिचानना संभव नहीं है। जानकारी के विना सत्य-असत्य का निर्णय करना, संभव नहीं है। वस्तु-स्वरूप का सही निर्णय किए विना उसका विवेचन, संभव नहीं है। यदि किया गया तो जो कुछ भी कहा जाएगा, वह गलत होगा; अतः प्रत्येक वस्तु को गहराई से जानने के पहले उसका लक्षण जानना, अति आवश्यक है।

यदि हम लक्षण का लक्षण/पहिचान/परिभाषा नहीं जानते होंगे, तो हमने किसी वस्तु को पहिचानने के लिए उसका जो लक्षण बनाया है, वह सही है कि गलत—इसका निर्णय कैसे करेंगे ? गलत लक्षण से वस्तु की पहिचान करने के प्रयास में यथार्थ पहिचान नहीं हो पाने

के कारण हम अपने प्रयोजन की सिद्धि, नहीं कर सकेंगे; अतः लक्षण के माध्यम से वस्तु की पहिचान करने के पूर्व लक्षण का लक्षण जान लेना अति आवश्यक है।

इसप्रकार लक्षण के विना वस्तु की तथा लक्षण के लक्षण-विना लक्षण की यथार्थ जानकारी करना असंभव होने से, लक्षण तथा लक्षण के लक्षण को जानना अति आवश्यक है।

प्रश्न ४ : लक्षण के भेद बताइए?

उत्तर : लक्ष्य के साथ अपृथक्/तादात्म्य/तन्मय और पृथक्/अतादात्म्य/अतन्मय की अपेक्षा लक्षण के दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत।

१. आत्मभूत-लक्षण : आत्म=अपना, भूत=होना; अर्थात् जो लक्षण, लक्ष्यभूत वस्तु का स्व/अपना होता है, वस्तु के साथ एकमेक होकर तादात्म्यरूप से रहता है, वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ, सदा रहनेवाला/त्रैकालिक होता है, वह आत्मभूत-लक्षण है। जैसे—अग्नि का लक्षण उष्णता, नमक का लक्षण खारापन, पुद्गल का लक्षण वर्णादि, जीव का लक्षण ज्ञानादि इत्यादि।

इसको वस्तु से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता है। वह वस्तु जहाँ, जैसी, जितने में रहेगी; उसका यह लक्षण भी वहीं, वैसा ही, उतने में ही रहेगा।

न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

“यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्—जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट/घुला-मिला/एकमेक है, वह आत्मभूत-लक्षण है।”

यह वस्तु का वास्तविक स्वरूप होने से यथार्थ/भूतार्थ लक्षण है। त्रिकाल में वस्तु की पहिचान इससे ही होती है। त्रैकालिक, पर से पूर्ण निरपेक्ष, असंयोगी वस्तु का निर्णय इसी लक्षण से होता है। असंयोगी आत्म-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान भी इसी लक्षण से होता है।

२. अनात्मभूत-लक्षण : अन्=नहीं, आत्म=अपना, भूत=होना; अर्थात् जो लक्षण, लक्ष्यभूत वस्तु का स्व/अपना नहीं होता है, वस्तु के साथ एकमेक होकर तादात्म्यरूप से नहीं रहता है; वस्तु के स्वरूप

में मिला हुआ, सदा रहने वाला, त्रैकालिक नहीं होता है, वह अनात्मभूत-लक्षण है। जैसे—किसी व्यक्ति का लक्षण, दंड (डंडा) वाला, चश्मा-वाला बनाना इत्यादि।

यह दंड या चश्मा, उस समय समूह में से किसी विशिष्ट व्यक्ति को पृथक् करने का कारण होने से लक्षण है; तथापि वह त्रैकालिक नहीं है; क्योंकि वे, व्यक्ति से पृथक् होने के कारण, व्यक्ति उनसे सहित सदा नहीं पाया जा सकता है। इसप्रकार यह लक्षण, मात्र उस समय, वैसी परिस्थिति में ही किसी की पहिचान का चिन्ह बन सकता है; सदा और सर्वत्र नहीं। यह लक्षण वस्तु के साथ एकमेक नहीं होने से, उससे पृथक् होने पर लक्षण नहीं कहलाता है।

न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

“तद्विपरीतं यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तदनात्मभूतम्—उस (आत्मभूत) से विपरीत जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में अननुप्रविष्ट है/घुला-मिला/एकरूप नहीं है, वह अनात्मभूत-लक्षण है।”

यह लक्षण, लक्ष्यभूत वस्तु से पृथक् होने के कारण असंयोगी वस्तु का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है; मात्र तात्कालिक संयोगी वस्तु का ज्ञान कराता है; इसप्रकार यह लक्षण समय, परिस्थिति आदि की अपेक्षा रखता है।

इसप्रकार लक्षण के आत्मभूत और अनात्मभूत—ये दो भेद होते हैं।

प्रश्न ५ : आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण का अन्तर बताइए?

उत्तर : यद्यपि ये दोनों, लक्षण के ही भेद हैं; तथापि इन दोनों में पारस्परिक अन्तर है। जो इसप्रकार है—

आत्मभूत लक्षण	अनात्मभूत लक्षण
१. यह वस्तु के साथ एकमेक होता है।	यह वस्तु के साथ एकमेक नहीं होता है।
२. यह वस्तु का वास्तविक स्वरूप होने से यथार्थ लक्षण है।	यह संयोग की अपेक्षा वस्तु का ज्ञान कराने वाला होने से तथा संयोग, औपचारिक होने से औप-चारिक लक्षण है।

३. यह त्रैकालिक लक्षण है।	यह तात्कालिक लक्षण है।
४. यह सर्वत्र पाया जाता है।	यह सर्वत्र नहीं पाया जाता है।
५. त्रैकालिक असंयोगी वस्तु का ज्ञान, मात्र इसी लक्षण से होता है।	त्रैकालिक असंयोगी वस्तु का ज्ञान इस लक्षण द्वारा असम्भव है।
६. वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय इससे ही होता है।	इससे वैसा निर्णय नहीं हो सकता है।
७. मोक्षमार्ग का मूलाधार स्व-पर भेद-विज्ञान इसी से होता है।	इसके बल पर वास्तविक भेद-विज्ञान नहीं हो पाता है।
८. इस लक्षण को यथार्थ नहीं समझने पर इसमें लक्षणाभासरूप अव्याप्ति आदि दोष आ जाते हैं।	प्रायः इस लक्षण में वे दोष नहीं गिने जाते हैं।
९. इस लक्षण से ही वस्तु की परीक्षा की जाती है।	इससे वस्तु की परीक्षा नहीं की जाती है।

इत्यादि अनकों प्रकार से इन दोनों लक्षणों में अन्तर है।

प्रश्न ६ : लक्षणाभास और उसके भेदों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
उत्तर : जो लक्षण, यथार्थ लक्षण नहीं होने पर भी लक्षण के समान प्रतिभासित होता है, उसे लक्षणाभास कहते हैं। “**लक्षणस्वरूपरहितः लक्षणवदवभासमानः लक्षणाभासः**—लक्षण के स्वरूप से रहित, लक्षण के समान प्रतिभासित होने वाला, लक्षणाभास है।” लक्षण+आभास=लक्षणाभास।

तात्पर्य यह है कि सदोष लक्षण, लक्षणाभास है। इसके तीन भेद हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव।

अव्याप्ति : जो लक्षण, लक्ष्य के एकदेश में रहता है, वह लक्षण का अव्याप्ति नामक दोष अर्थात् अव्याप्ति लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

“**लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तं, यथा गोः शावलेयत्वम्**—लक्ष्य के एकदेश में लक्षण का रहना, अव्याप्त है; जैसे—गाय का शावलेयत्व/चितकबरापना।” यद्यपि गाय का रंग चितकबरा होता है; तथापि सभी

गायों का रंग चितकबरा नहीं होने से यह लक्षण, अव्याप्त दोषवाला है।

अ=नहीं, व्याप्त=फैलना/पसरना। जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, उस सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थ में जो लक्षण नहीं रहता है, उसके कुछ ही अंशों में रहता है, वह अव्याप्ति लक्षणाभास है। ‘कुछ ही अंशों में’ से तात्पर्य यह है कि जिसका लक्षण किया जा रहा है, उसके सम्पूर्ण द्रव्य में, सम्पूर्ण क्षेत्र में, सभी कालों में और समस्त भावों में नहीं रहकर उसके कुछ ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहना। जैसे—गाय का लक्षण चितकबरापना, सभी गायों में नहीं पाया जाता है; जीव का लक्षण संसारी, सभी जीवों में नहीं पाया जाता; जीव का लक्षण केवलज्ञान, मतिज्ञान, भव्यत्व, मनुष्य आदि सभी जीवों में नहीं होने के कारण अव्याप्ति लक्षणाभास है।

२. **अतिव्याप्ति :** जो लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य—दोनों में पाया जाता है, वह लक्षण का अतिव्याप्ति नामक दोष अर्थात् अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

“**लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यव्याप्तं, यथा तस्यैव पशुत्वम्**—लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहना, अतिव्याप्त है; जैसे—उसी गाय का लक्षण, पशुपना।”

यद्यपि गाय पशु है; तथापि गाय के अतिरिक्त भेड़, बकरी, हाथी आदि भी पशु होने से इस लक्षण के अनुसार वे सभी गाय कहलाएंगे—इसप्रकार यह लक्षण अतिव्याप्त दोषवाला है। अति=अधिक/अपने से भिन्न/अन्य में, व्याप्त=फैलना/पसरना।

जिसका लक्षण बनाया जा रहा है, उस सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थ में तो जो लक्षण रहता ही है, पर उसके साथ ही जिनका लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, उन अन्य अलक्ष्यभूत पदार्थों में भी पाया जाता है, वह अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। जैसे—गाय का लक्षण पशुपना, गाय के अतिरिक्त घोड़े आदि में भी पाया जाता है; जीव का लक्षण अमूर्तिकपना, असंख्यात-प्रदेशी, अनादि-अनन्त, अनन्त गुण-सम्पन्न,

अरस, अरूप आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाने के कारण अतिव्याप्ति लक्षणाभास है।

३. **असम्भव** : जो लक्षण, लक्ष्यभूत वस्तु में कभी रहता ही नहीं है; वह लक्षण का असम्भव नामक दोष अर्थात् असम्भव लक्षणाभास है। न्यायदीपिका में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—

“बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि यथा नरस्य विषाणत्वम्—लक्षण का लक्ष्य में रहना बाधित होना, असम्भवि है; जैसे—मनुष्य का लक्षण विषाणत्व/सींगपना।” यह लक्षण मनुष्य में कभी भी नहीं पाया जाता है, अतः यह असम्भवि दोषवाला है। अ=नहीं, सम्भवि=होना।

हमने जिसे लक्षण बनाया है, वह यदि लक्ष्यभूत पदार्थ में कभी रहता ही नहीं है, तो असम्भव लक्षणाभास है। जैसे—मनुष्य का लक्षण सींगपना, पुद्गल का लक्षण चेतनता; जीव का लक्षण काला, गोरा, मोटा, पतला, धनी, गरीब, गति-हेतुत्व आदि उसमें कभी भी नहीं पाया जाने के कारण यह लक्षण, असम्भव लक्षणाभास है।

इसप्रकार ये तीन दोष जिसमें पाए जाते हैं, वह लक्षणाभास कहलाता है।

प्रश्न ७ : अव्याप्ति-अतिव्याप्ति लक्षणाभासों का अन्तर बताइए?

उत्तर : यद्यपि ये दोनों ही दोष हैं; तथापि इन दोनों के स्वरूप में कुछ पारस्परिक अन्तर है। वह इसप्रकार है—

अव्याप्ति लक्षणाभास	अतिव्याप्ति लक्षणाभास
१. यह लक्ष्य के एकदेश में पाया जाता है।	यह लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में पाया जाता है।
२. यह एक ही जातिवाली वस्तुओं में ही पाया जाता है।	यह भिन्न जातिवाली वस्तुओं में भी पाया जाता है।
३. यह कुछ समयवाला अर्थात् अल्प-कालिक भी हो सकता है।	यह त्रैकालिक भी हो सकता है।
४. यह एक ही द्रव्य की कुछ दशाओं को लक्षण बनाने पर भी	यह भिन्न-भिन्न द्रव्यों की दशाओं आदि को लक्षण बनाने पर भी

होता है।

५. इससे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप संबंधी विपरीत मान्यता, इन्हें अपना मानने या इनसे ही अपनी पहिचान करनेरूप मिथ्या मान्यता पुष्ट होती है।

६. इसे यथार्थ लक्षण मान लेने पर अपनी पर्यायों के साथ, एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप विपरीत-बुद्धिआँ पुष्ट होती हैं।

७. इस दोष से बचने के लिए मुख्य-तया विविध पर्यायों का यथार्थ स्वरूप जानना अत्यावश्यक है।

हो सकता है।

इससे मुख्यतया जीव-अजीव तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता पुष्ट होती है।

इसे यथार्थ लक्षण मान लेने पर पर-पदार्थों के साथ एकत्व आदि विपरीत-बुद्धिआँ पुष्ट होती हैं।

इस दोष से बचने के लिए मुख्य-तया द्रव्यों का जाति-अपेक्षा से पृथक्-पृथक् स्वभाव जानना अत्यावश्यक है।

इत्यादि अनेक प्रकार से इन दोनों लक्षणाभासों में अन्तर है।
प्रश्न ८ : जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं—इस कथन की परीक्षा कीजिए?

उत्तर : प्रस्तुत वाक्य में अमूर्तिक, लक्षण है और जीव, लक्ष्य है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि मय पदार्थ को मूर्तिक कहते हैं तथा स्पर्श आदि से रहित पदार्थ, अमूर्तिक कहलाता है। जीव में स्पर्श आदि नहीं होने से वह अमूर्तिक है। उसमें अमूर्तिकपना, स्वभाव से ही सदा विद्यमान है; अतः यह लक्षण असम्भव दोष से दूषित नहीं है।

अमूर्तिकपना, सभी जीवों का सामान्य गुण है। वह संसारी, सिद्ध, सूक्ष्म, बादर आदि सभी जीवों में पाया जाता है; अर्थात् यह लक्षण, लक्ष्यभूत सभी जीवों में विद्यमान है, इसलिए अव्याप्ति दोष से भी दूषित नहीं है।

परन्तु अमूर्तिकपना, पुद्गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्यों का सामान्य गुण होने से वह, जीव के साथ ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन चार द्रव्यों में भी पाया जाता है। इसप्रकार यह लक्षण,

लक्ष्यभूत जीव में तथा अलक्ष्यभूत धर्म आदि द्रव्यों में भी विद्यमान है; अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

इसप्रकार जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं—इस कथन में असम्भव और अव्याप्ति दोष नहीं होने पर भी अतिव्याप्ति दोष विद्यमान होने से, जीव का अमूर्तिक लक्षण, लक्षणाभास है/सदोष लक्षण है, यथार्थ लक्षण नहीं है। इस लक्षण के द्वारा सभी द्रव्यों से जीव को पृथक् नहीं कर सकते हैं। इस लक्षण से जीव की पहिचान करने पर पुद्गल तो जीव नहीं कहलाएगा; परन्तु धर्म आदि चार द्रव्यों को जीव कहना पड़ेगा, जो कि यथार्थ नहीं है; अतः यह लक्षण नहीं, लक्षणाभास है। उपयोग ही जीव का निर्दोष लक्षण है।

प्रश्न ९ : गाय को पशु कहते हैं तथा पशु को गाय कहते हैं—इन दो कथनों की परीक्षा कीजिए?

उत्तर : गाय को पशु कहते हैं : इस कथन में गाय, लक्षण और पशु, लक्ष्य है। गाय रूप लक्षण, पशु रूप लक्ष्य में रहता है, इसलिए असम्भव दोष, इसमें नहीं है। गायरूप लक्षण, पशुरूप लक्ष्य में ही रहता है, मनुष्य आदि रूप अलक्ष्य में नहीं रहता है; अतः यह अतिव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है; परन्तु गायरूप लक्षण, पशुरूप सम्पूर्ण लक्ष्य में नहीं रहता है; हाथी, घोड़े आदि पशु हैं; पर वे गाय नहीं हैं। यह लक्षण, मात्र गायरूप पशु में ही रहता है। इसप्रकार इसकी लक्ष्य के एकदेश में वृत्ति होने से यह, अव्याप्ति दोष से दूषित है अर्थात् पशु का लक्षण, गाय बनाना; अव्याप्ति लक्षणाभास है, वास्तविक लक्षण नहीं है।

पशु को गाय कहते हैं : इस कथन में पशु, लक्षण है और गाय, लक्ष्य है। पशु लक्षण, गाय में पाया जाता है, इसलिए इसमें असम्भव दोष नहीं है; लक्ष्यरूप सभी गायों में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोष से दूषित भी नहीं है; परन्तु गायरूप लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्यरूप हाथी, घोड़े आदि में भी पाया जाता है; अतः अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। इसप्रकार गाय का लक्षण, पशु बनाना, अतिव्याप्ति लक्षणाभास है, वास्तविक लक्षण नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि पशु का लक्षण गाय, अव्याप्ति तथा गाय का लक्षण पशु, अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण लक्षणाभास है।

प्रश्न १० : जो खट्टा हो, उसे नीबू कहते हैं—इस कथन की परीक्षा कीजिए?

उत्तर : प्रस्तुत कथन में खट्टा, लक्षण है और नीबू, लक्ष्य है। खट्टारूप लक्षण, नीबू रूप लक्ष्य में पाया जाता है, इसलिए असम्भव दोषवाला नहीं है; नीबू रूप सम्पूर्ण लक्ष्य में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है; परन्तु नीबूरूप लक्ष्य के साथ ही इमली आदि अलक्ष्य में भी पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोषवाला है।

इसप्रकार नीबू का लक्षण, खट्टापन; अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण लक्षणाभास है।

प्रश्न ११ : जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हो, उसे पुद्गल कहते हैं—इस कथन की परीक्षा कीजिए?

उत्तर : प्रस्तुत कथन में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, लक्षण है और पुद्गल, लक्ष्य है। यह लक्षण, पुद्गल में सदा पाया जाता है, इसलिए असम्भव दोषवाला नहीं है; समस्त पुद्गलों में पाया जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है तथा पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी में भी नहीं पाया जाता है, इसलिए अतिव्याप्ति दोषवाला भी नहीं है।

इसप्रकार पुद्गल का लक्षण, स्पर्श आदि—यह तीनों दोषों से रहित होने के कारण यथार्थ लक्षण है।

प्रश्न १२ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है?

उत्तर : वैसे तो इस प्रकरण को समझने से अनकों लाभ हैं; पर उनमें से कुछ मुख्य इसप्रकार हैं—

१. वस्तु का यथार्थ लक्षण नहीं समझ पाने पर उसकी यथार्थ पहिचान सम्भव नहीं है। पहिचान के विना, परीक्षा करना सम्भव नहीं हो पाने से, उसका निर्णय कर पाना, शक्य नहीं है। निर्णय किए विना अपने लिए उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता ज्ञात नहीं हो पाने से, उपादेय या हेय कर पाना भी सम्भव नहीं है; अतः लक्षण का ज्ञान करना आवश्यक है।

२. सुखी होने के लिए देव, शास्त्र, गुरु, जीव आदि सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत तत्त्व का यथार्थ स्वरूप, उनके लक्षण के माध्यम से ही ज्ञात होता है; अतः लक्षण जानना, अति आवश्यक है।

३. अपना यथार्थ लक्षण ज्ञात नहीं होने से हम स्वयं को अनादि से काले, गोरे, मोटे, पतले, तिर्यंच, मनुष्य आदि शरीररूप या धन, कुटुम्ब आदि रूप मानते आ रहे हैं। इस विपरीत मान्यता के कारण चार गति, चौरासी लाख योनिओं में परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख भोग रहे हैं। लक्षण और लक्षणाभास का यह प्रकरण समझ में आ जाने से यह ज्ञात होता है कि स्वयं को इन रूप मानना तो असंभव लक्षणाभास है; मैं कभी भी इन रूप हुआ नहीं, हूँ नहीं और हो भी नहीं सकूँगा—इस समझ के बल पर इन्हें अपना मानना छोड़कर, जब हम अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर इसमें लीन होते हैं, तो मिथ्यात्व नष्ट होकर जीवन सम्यकरत्नत्रय-सम्पन्न, अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है।

४. वास्तव में कोई भी पर्याय अनादि-अनन्त नहीं होने से पर्याय को अपना लक्षण बनाना/पर्याय से अपनी पहिचान करना, अव्याप्ति लक्षणाभास है—यह समझ में आ जाने से विकारी-अविकारी सभी प्रकार की पर्यायों का आकर्षण नष्ट हो जाता है; जिससे पर्याय-दृष्टि/पर्याय-मूढ़ता नष्ट होकर, द्रव्य-दृष्टि प्रगट होती है; जो स्वयं सुख-शान्तिमय परिणमन है।

५. इसी आधार पर अन्य को भी पर्यायरूप से देखने का भाव नष्ट हो जाता है; जिससे व्यर्थ के राग, द्वेष, मान, अपमान, विषय-भोग आदि संबंधी भाव नष्ट होकर जीवन सहज समतामय हो जाता है।

६. जो विशेषताएं अपने में तथा अन्य में समान हैं, उनसे अपनी या अन्य की पहिचान करना, अतिव्याप्ति लक्षणाभास है अर्थात् सामान्य/साधारण और साधारण-असाधारण लक्षणों से अपनी पहिचान करना, अतिव्याप्ति लक्षणाभास है। इसके बल पर भेद-विज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है—यह समझ में आ जाने पर, इन सबसे दृष्टि हटाकर जब हम अपने विशेष गुण/चेतना गुण से अपनी पहिचान करते हैं, तो भेद-विज्ञान प्रगट हो जाता है। जो आत्मानुभूति और शाश्वत सुख का मूल है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि लक्षण और लक्षणाभास को जाने/पहिचाने विना लौकिक और लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकते हैं।



पाठ ४ : पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की

ग्यारह प्रतिमाएं

प्रश्न १ : कविवर पण्डित बनारसीदासजी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए?
उत्तर : कविवर पण्डित बनारसीदासजी अध्यात्म और काव्य दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठा-प्राप्त रस-सिद्ध कवि और आध्यात्मिक विद्वान हैं। आप महाकवि तुलसीदासजी के समकालीन, सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्धतम विद्वानों में से एक हैं।

आपका जन्म श्रीमाल-वंश में लाला खरगसेन के घर विक्रम संवत् १६४३ की माघ शुक्ल एकादशी, रविवार को जौनपुर नगर में हुआ था। जन्म के समय आपका नाम विक्रमाजीत रखा गया था; बाद में बनारस-यात्रा के समय पार्श्वनाथ भगवान की जन्म-भूमि वाणारसी के नाम पर आपका नाम बनारसीदास हो गया। आप अपने माता-पिता के इकलौते सुपुत्र थे।

आपने अपने जीवन में अत्यधिक उतार-चढ़ाव देखे हैं। आपका जीवन आर्थिक विषमताओं से तो परिपूर्ण है ही, पारिवारिक विषमताओं से भी भरपूर है। आपके तीन विवाह हुए; सात पुत्र और दो पुत्रियाँ—इसप्रकार नौ संतानें हुईं; परन्तु आपके सामने ही एक भी जीवित नहीं रही। इस घटना को आपने अपने अर्ध-कथानक नामक आत्म-चरित में इसप्रकार लिखा है—

कही पचावन बरस लौं, बानारसि की बात।

तीनि विवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात।।

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।

ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहै दूँठ सै होई।।

ऐसी विषम परिस्थिति में भी वस्तु-स्वरूप के चिंतन-मनन तथा आत्मानुभव के बल पर आप विचलित नहीं हुए।

आप अपने प्रारंभिक जीवन में अनेक बार विविध अंध-विश्वासों के भी शिकार हुए तथा आध्यात्मिक रुचि-सम्पन्न होने के बाद आपने पूरी दृढ़ता से अपने साहित्य में उन अंध-विश्वासों का

तीव्रतम खंडन भी किया है।

आप प्रारंभ से ही क्रांति-कारी व्यक्तित्व के धनी थे। विवेक जागृत होने के बाद आप उस आध्यात्मिक-क्रांति के जन्म-दाता हुए, जो तेरा-पंथ के नाम से जानी जाती है तथा जिसने जिन-मार्ग पर छाए भट्टारक-वाद पर दृढ़ता से प्रहार कर, उसकी जड़ें कमजोर कर दीं और जो आगे बढ़कर आचार्य-कल्प पण्डित टोडरमलजी का संस्पर्श पाकर समस्त उत्तर भारत में फैल गई।

काव्य-प्रतिभा आपको जन्म से ही प्राप्त थी। जीवन की किशोरावस्था में ही आप उच्च-कोटि की कविता करने लगे थे; परन्तु प्रारम्भ में आप शृंगारिक कविता में मग्न रहे। चौदहवें वर्ष में आपकी सर्व-प्रथम कृति 'नवरस' तैयार हो गई थी। शृंगार रस की अद्भुत उत्कृष्ट इस कृति को आपने स्वयं ही आत्म-ज्ञान होने के बाद गोमती नदी के प्रवाह में प्रवाहित कर दिया। इसके बाद आपने पूर्णतया आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। नाटक समयसार, बनारसी विलास, नाममाला और अर्ध-कथानक आपकी वर्तमान में उपलब्ध कृति हैं। जिनका अति-संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **नाटक समयसार**—यह एक प्रकार से अमृतचंद्राचार्य के समयसार कलशों के भावात्मक पद्यानुवादमय कृति है; तथापि अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण इस ग्रंथ का अध्ययन करते समय स्वतंत्र ग्रंथ के अध्ययन-सम ही आनंद प्राप्त होता है। आध्यात्मिक रस से परिपूर्ण होने के साथ ही इस ग्रंथ में चौदह गुणस्थानों का और ग्यारह प्रतिमाओं का मार्मिक विवेचन किया गया है।

२. **बनारसी विलास**—यह ग्रंथ कवि की छोटी-बड़ी गद्य-पद्यात्मक विविध रचनाओं का संग्रह ग्रंथ है।

३. **नाममाला**—धनंजय कवि कृत नाममाला का अनुकरण करते हुए बनाया गया यह हिन्दी भाषा का शब्द-कोश है।

४. **अर्ध-कथानक**—यह हिन्दी भाषा का सर्व-प्रथम आत्म-चरित्र है। तत्कालीन आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक परिस्थितियों को तथा आपके पचपन-वर्षीय जीवन को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित करनेवाली यह प्रौढ़तम कृति है। इस कृति का नामोल्लेख गिनीज बुक

में भी है—ऐसा सुनते हैं। पुण्य-पाप के उदय संबंधी सांसारिक विचित्रताओं, उनमें ज्ञानी जीवों की मनोवृत्तियों की जानकारी के लिए तथा विविधताओं से युक्त पण्डित बनारसीदासजी के जीवन से परिचित होने के लिए इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

जैन अध्यात्म के क्षेत्र में तो पण्डित बनारसीदासजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है ही; हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उनका योगदान असंदिग्ध है। मात्र आवश्यकता इस बात की है कि धार्मिक पक्षपात से रहित होकर विचार, भाव, भाषा, साहित्यिक उपादान आदि दृष्टियों से इनके साहित्य का गम्भीरतम अध्ययन किया जाए।

इसप्रकार पण्डित बनारसीदासजी अपने आत्म-साधना और काव्य-साधना—दोनों ही क्षेत्रों के अनुपम व्यक्ति रहे हैं।

प्रश्न २ : पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की सामान्य-दशा का वर्णन कीजिए?

उत्तर : जाति की अपेक्षा षट् द्रव्यमई और संख्या की अपेक्षा अनन्ता-नन्त द्रव्यमई इस लोक में प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव से ही अपने से पूर्णतया अभिन्न और पर से पूर्णतया भिन्न, एकत्व-विभक्त स्वभावी है। प्रत्येक द्रव्य अनंत शक्तियों का संग्रहालय, अनंत गुणों का गोदाम, अनंत स्वभावों का सागर, अनंत वैभव-संपन्न होने से अपनी सीमा में रहता हुआ, पर से पूर्ण निरपेक्ष रह, सुव्यवस्थित रूप में सतत अपना कार्य करता रहता है।

यद्यपि जीव द्रव्य का भी ऐसा ही स्वभाव है। यह भी पर से पूर्ण निरपेक्ष रहकर ही अपना कार्य कर रहा है तथा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न होने के कारण तात्कालिक योग्यतानुसार स्व-पर पदार्थों को जानता भी है; तथापि अनादि से ही अपने स्वभाव को भूला होने के कारण इसके अपने ज्ञान में जो भी पदार्थ ज्ञात होता है; यह उसे अपना मानकर, जानकर, उसमें राग-द्वेष करने लगता है। यह मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान, मिथ्या-चारित्र्यरूप प्रवर्तन ही इसके अनन्त दुःखों का एक-मात्र कारण है।

भव्यता का परिपाक होने पर विशिष्ट क्षयोपशम तथा विशुद्धि लब्धि-सम्पन्न सैनी पंचेंद्रिय पर्याप्तक, जागृत, ज्ञानोपयोगी जीव सद्देव

-शास्त्र-गुरु के माध्यम से देशना/सदुपदेश प्राप्तकर, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों, स्व-पर पदार्थों, हितकारी-अहितकारी भावों का यथार्थ निर्णयकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने में अपनत्व लाने रूप पुरुषार्थमय प्रायोग्य-लब्धि को पार करता हुआ, उत्तरोत्तर शनैः-शनैः विकल्पों के शमन रूप करण-लब्धि के अंतिम समय बाद क्षण-भर के लिए निर्विकल्प हो स्वरूप-लीन हो जाता है; अपने अनंत दुःखों को समाप्त कर आत्म-संतुष्टिरूप आत्मानुभव-जन्य अतीन्द्रिय आनन्द का पान करता है। यह अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से मानने रूप सम्यग्दर्शन, अपनत्वरूप से जाननेरूप सम्यग्ज्ञान और उसमें ही लीनतारूप सम्यक्चारित्रमय सम्यक् रत्नत्रय ही दुःखों से छूटने का उपाय होने से मोक्ष-मार्ग है। आचार्य उमास्वामी देव ने मोक्ष-शास्त्र के प्रथम सूत्र में लिखा भी है—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।”

यह जीव सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न होने पर भी विशेष स्वरूप-लीनता का अभाव होने से अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहलाता है। कर्मों की अपेक्षा इसे इसप्रकार समझ सकते हैं—दर्शन-मोहनीय एक; अथवा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व—ये दो या मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप दर्शन-मोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ—इन पाँच, छह या सात प्रकृतिओं का कथंचित् अभाव हो जाने से जिस जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्वाचरणरूप सम्यक्चारित्र तो प्रगट हुआ है; परन्तु अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ का उदय होने से संयमाचरण चारित्र प्रगट नहीं हुआ है; वह जीव अविरत/असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी इसे नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद २७ में निम्नलिखित शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

“सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन-दिन रीति गहै समता की।

छिन-छिन करै सत्य कौ साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ।।

जिसकी प्रतीति में आत्मा का सत्य स्वरूप आ गया है, प्रतिदिन समता की पद्धति को ग्रहण करता है/उत्तरोत्तर समता-भाव को

— पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक... — ५४ —

बड़ाता जाता है, प्रतिक्षण सत्य का पक्ष लेता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव है।”

इस आत्मानुभवी जीव का आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ मंद होने के कारण सतत प्रयत्न-शील रहने पर भी दीर्घ अंतराल के बाद ही अत्यल्प समय के लिए यह स्वरूप-लीन हो पाता है; अतः इसके अब्रत रूप परिणाम बने रहते हैं। बुद्धि पूर्वक हिंसादि पापों का तथा विषय-भोगों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग यह नहीं कर पाता है।

आत्मोन्मुखी विशिष्ट पुरुषार्थ द्वारा जब यह जीव, आत्म-स्वरूप में विशेष स्थिर हो जाता है; तब उपर्युक्त पाँच, छह या सात प्रकृतिओं के साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय का भी इसके अभाव हो जाने से आत्मा का निर्विकल्प अनुभव कुछ शीघ्र-शीघ्र होने लगता है तथा स्वरूप-स्थिरता का समय भी बढ़ जाता है। परिणति में विशेष वीतरागता प्रगट हो जाती है; जिससे इस साधक जीव के संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति आसक्ति सहज ही हीन हो जाने के कारण, उनके प्रति सहज उदासीनता व्यक्त हो जाती है।

अब इसे इस भूमिका के अयोग्य तीव्र विषय-कषायरूप अशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते हैं तथा नियम-बद्ध होने, प्रतिज्ञा लेने के भाव जागृत हो जाते हैं। उसका बाह्य आचरण भी सहज ही तदनुकूल व्रतादिरूप हो जाता है। इसी अवस्था को पंचम गुणस्थानवर्ती एकदेश संयमी/व्रती श्रावक कहते हैं।

इस जीव के दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्या-नावरण संबंधी क्रोधादि कषायों के उदय का अभाव हो जाने पर भी प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादि का उदय विद्यमान है; जिससे भूमिकानुसार वीतरागता के साथ ही शुभाशुभ भाव और तदनुकूल शुभाशुभ क्रियाएं भी होती रहती हैं। इन सभी के असंख्यात लोक प्रमाण भेद होने पर भी संक्षेप में बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में इन्हें विभक्त किया जाता है। उत्तरोत्तर कषायों के अभावानुसार प्रतिमाएं बढ़ती जाती हैं। इस सम्पूर्ण दशा को देश-संयम, देश-चारित्र, संयमासंयम, विरताविरत आदि नामों से भी जाना जाता है।

— तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक — ५५ —

इसप्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की सामान्य दशा शुद्धि और अशुद्धि के, वीतराग और राग के, त्याग और भोग के मिश्रणरूप है।
प्रश्न ३ : प्रतिमा का समग्र स्वरूप स्पष्ट कर उसके भेद लिखिए?
उत्तर : सैनी, पंचेंद्रिय, पर्याप्तक, भव्य, कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यच क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि पूर्वक आत्मो-न्मुखी पुरुषार्थ द्वारा दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के अभावरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप एक-देश वीतरागता प्रगट कर लेता है तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी विकारों से सहित रहता है; इस अविकार और विकाररूप मिश्र-दशा को ही पंचम गुणस्थानवर्ती देश-संयम कहते हैं।

इस मिश्र-दशा में से दर्शन-मोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्या-नावरण के अनुदय में व्यक्त हुई शुद्ध परिणति/वीतरागता, वास्तव में सुखमय तथा सुख की कारण होने से यथार्थ धर्म है, इसे नयों की भाषा में निश्चय धर्म भी कहते हैं। यह साधक-दशा संबंधी वास्तविक मोक्ष-मार्ग है।

शेष प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि के उदय में विद्यमान बारह व्रत आदि के परिणाम, भूमिकानुसार प्रतिमा-पालन के भाव, यद्यपि विकाररूप होने से धर्म नहीं हैं और तदनुकूल शरीर आदि बाह्य संयोगों की परिणति, पूर्णतया जड़मय होने से धर्म नहीं है; तथापि व्यक्त वीतरागता के सहचारी और निमित्त होने से कदाचित् निमित्त-नैमित्तिक संबंध की मुख्यता से, व्यवहार नय की अपेक्षा इन्हें भी उपचार से धर्म कह देते हैं। यह क्रमशः साधक-दशा संबंधी बंध-मार्ग तथा बंध-मोक्ष से निरपेक्ष शरीरादि की क्रिया है। इन तीनों का एक नाम देश-संयम है।

इस देश-संयम लब्धि के असंख्यात लोक प्रमाण असंख्य प्रकार के परिणाम होते हैं। जिन्हें संक्षेप में छद्मस्थ के ज्ञान-गोचर उत्तरोत्तर वृद्धिगत वीतरागता की अपेक्षा ग्यारह भागों में वर्गीकृत किया गया है। इन्हें ही ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं। कविवर पण्डित बनारसीदासजी वहीं, छंद ५८ द्वारा प्रतिमा का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
 उदय प्रतिज्ञा कौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम॥

जीव के जिन परिणामों में संयम का अंश जागृत हो गया है; संसार, शरीर और पंचेंद्रिय विषय-भोगों के प्रति अरुचि/विरक्ति हो गई है; जिसके कारण अशुभ-भावों से बचने के लिए प्रतिज्ञा लेने का भाव व्यक्त हो गया है, उसे प्रतिमा कहते हैं।”

हिंसा आदि पाँच पापों का तथा पंचेंद्रिय विषय-भोगों का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ होने पर भी यह जीव उनमें असीम प्रवृत्ति भी नहीं करता है। पहले सम्यग्दर्शन की प्रगटता के साथ ही अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, असदाचारमय सात-व्यसन आदि संबंधी अति तीव्र कषायरूप अनर्गल भोग के भाव तो नष्ट हो गए थे; परन्तु अविरत दशा होने से न्याय-नीति-सम्पन्न सदाचारमय भोग-भावों में तथा भक्ष्य-पदार्थों के सेवन में देश-काल आदि की अपेक्षा मर्यादा/सीमा नहीं थी।

अब इसके वीतरागता विशेष बड़ जाने के कारण न्याय-नीति परक भोग-विलास आदि को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा मर्यादित करने का भाव जागृत हुआ है; इसलिए न्यायोचित विषय-भोगों को भी प्रतिज्ञा पूर्वक छोड़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है। यह भोजन, पान, वस्त्र, बर्तन, धन, धान्य, आसन, वाहन आदि जीवनोपयोगी समस्त वस्तुओं संबंधी सीमा सुनिश्चित कर लेता है। भूमिकानुसार उत्तरोत्तर वीतरागता की वृद्धि के साथ ही इन्हें भी उत्तरोत्तर कम करता जाता है।

वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, आत्मानुभवी होने से यद्यपि यह पूर्ण स्वतन्त्र, पर से निरपेक्ष, समग्र स्वाधीन दशा, सर्व सावद्य योगों से रहित, आरम्भ-परिग्रह-विहीन, आत्म-लीनतामय शुद्धोपयोगरूप मुनि-दशा का ही अभिलाषी है; तथापि अपनी कमजोरी का ज्ञाता होने से उसे पाने का संक्लेशतामय आग्रह भी नहीं रखता है। भूमिकानुसार होने वाली प्रत्येक परिस्थिति को सहज स्वीकार करता हुआ, भेद-विज्ञान के बल से सतत आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करता रहता है। इसप्रकार यह प्रतिमामय दशा ज्ञान-धारा और कर्म-धारा

की योग्यतानुसार समन्वयात्मक दशा है।

उत्तरोत्तर वृद्धिगत वीतरागता की अपेक्षा चरणानुयोग की शैली में इसके ग्यारह भेद किए गए हैं। जो इसप्रकार हैं—१.दर्शन प्रतिमा, २.व्रत प्रतिमा, ३.सामायिक प्रतिमा, ४.प्रोषधोपवास प्रतिमा, ५.सचित्त-त्याग प्रतिमा, ६. दिवा-मैथुन-त्याग/रात्रि-भुक्ति-त्याग प्रतिमा, ७.ब्रम्हचर्य प्रतिमा, ८.आरम्भ-त्याग प्रतिमा, ९.परिग्रह-त्याग प्रतिमा, १०.अनुमति-त्याग प्रतिमा और ११.उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा। इनमें से क्रमानुसार सभी आगामी प्रतिमाएं पूर्व प्रतिमाओं संबंधी विशुद्धि से सहित ही होती हैं।

इन प्रतिमाओं को जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भागों में भी विभक्त किया गया है—पहली से छठवीं प्रतिमा पर्यंत जघन्य, सातवीं से नवमीं प्रतिमा पर्यंत मध्यम तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा को उत्कृष्ट की श्रेणी में रखा गया है। पुनः ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक के रूप में दो भेद कर दशवीं को जघन्य, क्षुल्लक को मध्यम और ऐलक को उत्कृष्ट रूप में भी वर्गीकृत किया है।

प्रतिमा-धारी ये सभी श्रावक ही कहलाते हैं, मुनि नहीं। इनके गृह-वासी और गृह-त्यागी ये दो भेद भी हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा-धारी तो नियम से गृह-त्यागी ही होते हैं; शेष में दोनों भेद सम्भव हैं।

इसप्रकार उत्तरोत्तर हीन-हीन होते हुए अशुभ-भाव, बड़ते हुए शुभ-भाव और शुद्ध-भावमय मिश्र परिणति, मिश्र प्रवृत्ति, प्रतिमा का समग्र स्वरूप है।

कभी-कभी कोई मिथ्यादृष्टि जीव शुद्ध-भावों के विना ही मात्र कषायों की मंदता के बल पर व्रतादि ग्रहणकर स्वयं को प्रतिमा-धारी मान लेते हैं। इससे उन्हें इतना लाभ तो होता है कि वे तीव्र कषाय रूप अशुभ-भावमय तीव्र आकुलता से बचे रहते हैं, नरक आदि पाप-बंध से भी बच जाते हैं, शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है, समाज में मान-प्रतिष्ठा भी मिल जाती है; परन्तु इतना सब होने पर भी शुद्धता/वीतरागता के अभाव में उन्हें निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त नहीं होता है। वे मोक्ष-मार्गी नहीं हैं, संसार-मार्गी ही हैं; कषाय की मंदता को ही धर्म मान लेने के कारण, अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करनेवाले गृहीत

मिथ्यात्वी हो जाने से सम्यक् रत्नत्रयरूप वास्तविक धर्म को प्रगट करने की अपनी पात्रता भी नष्ट कर बैठते हैं; अतः ऐसी प्रवृत्तियों से सतत सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न ४ : दर्शन प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि के अनुदय में व्यक्त हुई वीतरागता के साथ, प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के उदय में होने वाले आठ मूल-गुणों के निरतिचार पालनरूप और सप्त-व्यसनों के निरतिचार त्यागरूप शुभ-भावों और तदनुकूल शुभ-क्रियाओंमय समग्र-दशा को दर्शन प्रतिमा कहते हैं। पण्डित बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“आठ मूलगुण संग्रहें, कुव्यसन क्रिया न कोई।

दर्शनगुण निर्मल करै, दर्शनप्रतिमा सोई॥५९॥

आठ मूलगुणों का संग्रह/पालन करनेवाला, कुव्यसन क्रियाओं का त्याग करने वाला, निर्मल दर्शन गुण से सम्पन्न जीव, दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

जिनागम में श्रावक के आठ मूल-गुणों का विश्लेषण देश, काल संबंधी परिवर्तित परिवेश के अनुसार अनेक प्रकार से किया गया है; जैसे—पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, मद्य-मांस-मधु रूप तीन मकार का त्याग, रात्रि-भोजन का त्याग, अनछने-जल का त्याग, अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतों का पालन, जीव-दया का पालन, देव-दर्शन की प्रतिज्ञा आदि। इन सभी में नामों का भेद होने पर भी भाव एक-मात्र यही है कि आठ मूल-गुण-धारी जीव स्थूलरूप से हिंसा आदि पाँच पापों से बचकर, अपने जीवन को देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य से वीतरागतामय बनाने का प्रयास करता है।

यह त्रस-हिंसा आदि से बचने के लिए असंख्य त्रस राशि के भंडार उदुम्बर-फल आदि का त्याग करता है तथा अहिंसा अणुव्रत आदि का पालन करता है। हिंसा आदि पाँच पापों से स्थूल रूप में बचने के लिए यह अतिचार-सहित, जुआ खेलना, मांस-भक्षण, मदिरा-पान, वेश्या-गमन, शिकार करना, चोरी करना, पर-स्त्री-रमण करना—इन सात-व्यसनों का भी पूर्णतया त्याग कर देता है।

इसकी मन, वचन, काय संबंधी समस्त प्रवृत्तियाँ, व्यक्त हुई वीतरागता और शुभ-भाव के अनुकूल ही होती हैं।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के श्लोक १३७वें द्वारा दर्शन प्रतिमा का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है—

“सम्यग्दर्शनशुद्धः सन्सारशरीर-भोगनिर्विण्णः।

पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥।

पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-सम्पन्न, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठी की चरण-शरण में रहनेवाला, सर्वज्ञ-कथित तत्त्व-पथ को ग्रहण करनेवाला जीव, दर्शनिक प्रतिमा-धारी है।”

इस प्रतिमा का पूरा नाम दर्शनिक (दर्शन संबंधी) प्रतिमा है; बोल-चाल में दर्शन प्रतिमा कहने लगे हैं। यह प्रतिमा जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-मात्र से संबंधित न होकर, आत्म-दर्शन पूर्वक प्रगट हुई विशिष्ट आत्म-स्थिरतामय वीतरागता से संबंधित है। इसमें व्यक्त वीतरागता, वास्तविक/निश्चय दर्शन प्रतिमा है तथा निरतिचार पूर्वक आठ मूल-गुणों के पालन और सात-व्यसनों के त्यागमय शुभ-भाव एवं तदनुकूल प्रवृत्तियाँ, औपचारिक/व्यवहार दर्शन प्रतिमा हैं।

प्रश्न ५ : दर्शन प्रतिमा और चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है?

उत्तर : वैसे तो ये दोनों सम्यक् रत्नत्रय के अंश होने से एक मोक्ष-मार्ग रूप ही हैं; तथापि इन दोनों में स्वरूपगत कुछ अंतर भी है। जो इसप्रकार है—

दर्शन प्रतिमा	चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शन
१. दर्शनप्रतिमा चारित्र गुण का शुद्ध-शुद्ध रूप मिश्र परिणमन है।	सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणमन है।
२. यह पंचम गुणस्थान की एक भाग होने से सम्यग्दर्शन के विना कभी भी नहीं होती है।	यह चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट हो जाने के कारण दर्शन प्रतिमा के विना भी रहता है।
३. यह मात्र कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यच में ही होती है।	यह चारों गतिओं में होता है।

४. यह देशसंयम दशा में होती है।

५. इसमें स्वरूप-स्थिरता कुछ विशेष/अधिक है तथा दो स्वरूप-स्थिर दशाओं के बीच अंतराल कुछ कम (अधिक से अधिक १५ दिन) होता है।

६. इसमें अष्ट मूलगुण आदि का निरतिचार पालन है।

७. यह मध्यम अंतरात्मा है।

८. इसमें दर्शनमोहनीय अनंतानु-बंधी और अप्रत्याख्यानावरण का अभाव है।

९. इसमें ५१ कर्म-प्रकृतिओं की बंध-व्युच्छिन्ति होती है।

१०. इसका काल कम है।

११. यह कर्मभूमिज मनुष्य को गर्भ काल से आठ वर्ष बाद तथा तिर्यच को जन्म के बाद योग्यतानुसार व्यक्त होती है।

१२. यह देवायु को छोड़कर अन्य तीन आयु में से किसी भी आयु का बंध होने पर नहीं होती है।

१३. इसमें प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग भाव है।

१४. यह विग्रहगति में नहीं रहती है।

१५. तीव्र पुरुषार्थी होने से शलाका पुरुषों के जीवन में यह नहीं आती है।

१६. यह मात्र सापेक्ष क्षायोपशमिक भावरूप ही होती है।

इत्यादि प्रकार से दोनों में अंतर है।

यह असंयम दशा में होता है।

इसमें विशेष स्वरूप-स्थिरता नहीं है तथा दो स्वरूप-स्थिर दशाओं के बीच अंतराल अधिक (कुछ समय कम छह माह) हो सकता है।

इसमें उनका निरतिचार पालन नहीं है।

यह जघन्य अन्तरात्मा है।

इसमें अप्रत्याख्यानावरणादि का अभाव नहीं है।

इसमें ४१ कर्म-प्रकृतिओं की बंध-व्युच्छिन्ति होती है।

इसका काल अधिक है।

यह चारों गतिओं की निर्वृत्त्य-पर्याप्तक दशा में, मनुष्य-तिर्यच भव की गर्भावस्था में भी रह सकता है।

किसी भी आयु का बंध हो जाने पर भी यह आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा हो सकता है।

इसमें प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग भाव नहीं है।

यह विग्रहगति में भी रहता है।

त्रेषठ शलाका पुरुष इससे सहित ही होते हैं।

यह औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक—तीनों रूप होता है।

प्रश्न ६ : व्रत प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के उदय के अभाव पूर्वक प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारों के कुछ मंद उदय से व्यक्त हुई वृद्धिगत वीतरागता तथा शेष रहे क्रोधादि विकारों के सद्भाव में व्यक्त हुए बारह व्रतादि रूप शुभ-भाव और तदनुकूल प्रवृत्तियों की समग्रता, व्रत प्रतिमा है। पहली दर्शन प्रतिमा-धारी की अपेक्षा इसके वीतरागता कुछ अधिक हो जाने से स्वरूप-स्थिरता कुछ अधिक हो गई है। तदनुकूल पर-पदार्थों के प्रति विशेष उपेक्षा भाव व्यक्त हो गया है। जिससे भूमिकानुसार अशुभ में कमी और शुभ में वृद्धि भी हो गई है। इसप्रकार विशिष्ट शुद्ध-अशुद्ध रूप परिणामों का मिश्रण, व्रत प्रतिमा है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं—

“पाँच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।

शिक्षाव्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल॥७०॥

पाँच अणुव्रतों का आदर करने वाला, तीन गुणव्रतों का पालन करने वाला और चार शिक्षाव्रतों को धारण करने वाला, व्रत प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रम्हचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणव्रत—ये पाँच अणुव्रत हैं। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड-विरतिव्रत; अथवा दिग्व्रत, अनर्थदण्ड-विरतिव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण, अतिथिसंविभाग; अथवा देशव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत, मूल-व्रत कहलाते हैं तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात, शील-व्रत कहलाते हैं। (इन सभी का विस्तृत वर्णन वीतराग विज्ञान विवेचिका प्रथम संस्करण में पृष्ठ २०४ से २२५ और द्वितीय संस्करण में २०८ से २२९ पर्यंत किया गया है। व्रत प्रतिमा का स्वरूप समझने के लिए पुनः उसका अध्ययन करना आवश्यक है।) मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण के अभावरूप वीतरागता से सहित इन बारह व्रतों का पालन, व्रत

— पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक... — ६२ —

प्रतिमा है। पहली प्रतिमा में पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन नहीं था; इसमें उनका निरतिचार पालन होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट किया है—

“निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।

धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥१३८॥

जो अतिचार-रहित पाँच अणुव्रत और सात शील को निःशल्य हो धारण करता है, वह व्रतियों में व्रतिक माना गया है।”

व्रती को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वामी मोक्ष-शास्त्र सातवें अध्याय के १८वें सूत्र में लिखते हैं—“निःशल्यो व्रती—शल्य-रहित व्रती है।” माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित जीव ही व्रती है।

काँटे के समान चुभन/आकुलतामय परिणाम, शल्य कहलाते हैं। व्रती कभी भी मायाचारी/प्रदर्शन/दिखावे के माध्यम से स्व या पर को ठगने का प्रयास नहीं करता है; आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाता है; धर्म-प्रभावना आदि के कार्यों में धन, समय, शक्ति आदि को नहीं छिपाता है—इत्यादि प्रकार के परिणाम, माया शल्य से रहित परिणाम हैं।

मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से इस व्रती के किसी भी रूप में मिथ्या प्रवृत्तियों, मिथ्या मान्यताओं, मिथ्या आचरणों, मिथ्या क्रियाओं का पोषण नहीं होता है। अपनी किसी कमजोरी-वश कोई विशिष्ट प्रकार का आचरण आदि नहीं कर पाने पर यह जीव पूर्णतया निःशल्य-भाव से ईमानदारी पूर्वक यह स्वीकार करता है कि मैं भले ही ऐसा नहीं कर पा रहा हूँ; तथापि करना तो ऐसा ही चाहिए—इत्यादि प्रकार की पवित्र परिणति को मिथ्या-शल्य का अभाव कहते हैं।

आत्म-वैभव में संतुष्ट यह व्रती श्रावक अपनी साधना के फल में कभी भी इस-लोक या पर-लोक संबंधी पंचेंद्रिय विषय-भोग-सामग्री की इच्छा नहीं करता है; स्वाधीन आत्मिक अतींद्रिय आनन्द के सामने इसे कोई भी लौकिक सामग्री, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते हैं; इसके मन में उनके प्रति सहज उदासीनता बनी रहती है; यही कारण है कि लोक संबंधी

— तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक — ६३ —

महान से महान उपलब्धि भी इसे मुग्ध/आकर्षित नहीं कर पाती है; यह उसकी इच्छा नहीं करता है—इत्यादि प्रकार के परिणाम निदान-शल्य से रहित परिणाम हैं।

इसप्रकार यह व्रत प्रतिमा-धारी श्रावक, विशिष्ट वीतरागता-सम्पन्न, बारह व्रतों से सहित और तीन शल्यों से रहित होता है। इनमें से विशिष्ट वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय व्रत प्रतिमा है तथा बारह व्रत-सहित, तीन शल्य-रहित शुभ-भाव और तदनुकूल शुभ-प्रवृत्तियाँ, वास्तविक धर्म नहीं होने पर भी उसकी निमित्त और सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार व्रत प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न ७ : सामायिक प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : दर्शन-मोह, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकारों के अभाव में तथा प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकारों की मंदता में प्रगट हुई शुद्ध परिणति को अधिकाधिक बढ़ाने के लिए यह सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक, चौबीस घंटों में तीन बार कम से कम एक-एक अंतर्मुहूर्त के लिए बुद्धि पूर्वक सम्पूर्ण सावद्य-योगों का त्यागकर, स्वरूप-स्थिरता का प्रयास करता हुआ; प्राणी-मात्र के प्रति; समस्त परिस्थितिओं, संयोगों के प्रति समता-भाव रखने का अभ्यास करता है। विशिष्ट वीतरागता के बल पर इस अभ्यास में सफलता-परक दशा ही श्रावक की तीसरी सामायिक प्रतिमा है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसका स्वरूप इसप्रकार लिखते हैं—

“द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।

तजि ममता समता गहै, अंतरमुहुरत एक॥६१॥

जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।

संयम सहित भावना भावै, सो सामायिक वंत कहावै॥६२॥

द्रव्य और भाव विधि पूर्वक, हृदय में प्रतिज्ञा धारण कर, एक अंतर्मुहूर्त पर्यंत जो ममत्व छोड़कर समता-भाव धारण करता है, शत्रु-मित्र आदि सभी को एक-समान जानता हुआ आर्त-रौद्र रूप कुध्यानों का निवारण करता है, संयम पूर्वक स्वरूप-लीनता की भावना भाता है/तद्रूप परिणमित होने का प्रयास करता है; वह सामायिक प्रतिमा-धारी कहलाता है।”

सामायिक की द्रव्य और भाव विधि का निरूपण करते हुए आचार्य समंतभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के १३९वें श्लोक में लिखते हैं—

“चतुरावर्त-त्रितयश्चतु-प्रणामः स्थितो यथाजातः।

सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥

जो चार दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करता है, चार दिशाओं में चार प्रणाम करता है, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह की चिंता से मुक्त हो कायोत्सर्ग में स्थित रहता है, खड़गासन या पद्मासन में से कोई एक आसन लगाकर मन-वचन-काय—इन तीन योगों को शुद्धकर, तीन सन्ध्याओं (पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह) में वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

सामायिक कहाँ करें ? कैसे करें ? सामायिक में क्या करें ? उससे लाभ क्या है ? इत्यादि बिन्दुओं की आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ९७ से १०४ पर्यंत ८ श्लोकों द्वारा विस्तृत मीमांसा की है। अन्यत्र अन्यान्य ग्रन्थों में भी इनका विस्तार से वर्णन किया गया है; जिसका संक्षिप्त-सार इसप्रकार है—

द्रव्य सामायिक की विधि : सामायिक करने का इच्छुक जीव अपने शरीर की यथा-योग्य शुद्धि कर; जीव-जन्तु-रहित, कोलाहल-रहित, निरापद, सामायिक के योग्य स्थान को देखकर, उस विशिष्ट स्थान पर शुद्ध-स्वच्छ चटाई, चौकी या शिला आदि का परिमार्जन कर, उस पर स्थित हो; समयानुसार सामायिक, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि पाठ पढ़कर; अपनी शक्ति के अनुसार कम से कम दो घड़ी, मध्यम चार घड़ी, उत्कृष्ट छह घड़ी पर्यंत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा का संकल्पकर, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुखकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा हो जाए।

मन-वचन-काय के व्यापार को शुद्ध करते हुए, आरम्भ-परिग्रह की चिंता से मुक्त हो, सर्व-प्रथम हाथ जोड़कर शांत भाव से अत्यंत मंद स्वर तथा स्पष्ट शब्दों में सामायिक दण्डक का पाठकर, तीन आवर्त पूर्वक (अंजुलि जोड़कर मुकुलित हाथों को दाहिने से बाँए ओर घुमाते हुए) परोक्ष रूप में समस्त पंच परमेष्ठियों, कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिम्बों-जिनालयों, जिनवाणी और जिनधर्ममय नौ जिन-देवताओं को नमस्कार करे।

तत्पश्चात् अपने दाहिने हाथ की ओर से घूमते हुए इसी विधि पूर्वक अन्य दिशाओं में स्थित नव देवताओं को नमस्कार करे (यदि पूर्व दिशा की ओर मुखकर खड़ा हुआ हो तो दक्षिण, पश्चिम, उत्तर— इस क्रम से तथा उत्तर दिशा की अपेक्षा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम—इस क्रम से पूर्वोक्त विधि सम्पन्न करे)। तदनन्तर उसी विवक्षित दिशा की ओर मुखकर अपनी शक्ति-अनुसार खड़गासन या पद्मासन मुद्रा को धारणकर, मौन पूर्वक उपसर्ग-परिषह आदि स्थिति में भी अपनी समय-सीमा पर्यन्त समस्त सावद्य-योगों का त्यागकर, समता-भाव पूर्वक पूर्णतया निश्चल रहे।

भाव सामायिक की विधि : इस समय तत्त्व-विचार पूर्वक स्व-पर का भेद-विज्ञान करते हुए आत्मामय रहने का, सहज ज्ञाता-दृष्टा रहने का, निर्विकल्प रहने का प्रयास करे। इसमें मन नहीं लगने पर पंच परमेष्ठियों के स्वरूप का विचार करे। संसार और मोक्ष के स्वरूप का विचार करते हुए, अपने परिणामों तथा उनके फल का विचार करे। वस्तु के सहज, सुनिश्चित, सुव्यवस्थित परिणामन क्रम को हृदयंगम कर सहज अकर्ता/ज्ञाता-दृष्टामय रहते हुए आत्मस्थ रहे; उपयोग को यहाँ-वहाँ भटकाने का प्रयास नहीं करे। प्रत्येक परिस्थिति/ज्ञेय को समता-भाव पूर्वक सहज स्वीकारकर आत्मस्थ रहे।

द्रव्य-भाव विधि पूर्वक की गई सामायिक से लाभ : सामायिक के समय की गई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा के बाहर यह जीव महा-व्रतियों के समान, समस्त आरम्भ-परिग्रह के त्याग से पाँचों पापों का पूर्णतया त्यागी कहा गया है तथा अपने मर्यादित स्थान पर भी सावद्य-योग का त्यागी तथा समता का अभ्यासी होने के कारण वस्त्र से आच्छादित मुनिराज के समान माना गया है; इससे ही मुनि-पद की शिक्षा का अभ्यास होता है; अतः प्रतिदिन आलस्य-रहित हो, एकाग्र-चित्त से सामायिक का अभ्यास करना चाहिए।

विभिन्न आचार्यों की अपेक्षा सामायिक शब्द का व्युत्पत्ति-परक अर्थ : तत्त्वार्थसूत्र, सातवें अध्याय के २१वें सूत्र की टीका लिखते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखते हैं—

“समेकीभावे वर्तते।एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समयः एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् — ‘सम्’ उपसर्ग का प्रयोग एकीभाव अर्थ में किया जाता है।.... (सामायिक में मूल शब्द समय है) जानना और गमन करना/परिणमित होना—ये दोनों कार्य जो एक साथ करता है, वह समय अर्थात् आत्मा है; समय ही सामायिक है। अथवा समय अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।”

तत्त्वार्थसूत्र नवमें अध्याय की टीका लिखते हुए आचार्य अकलंकदेव अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) ग्रंथ में सामायिक शब्द का इसप्रकार विश्लेषण करते हैं—“आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपण-हेतवः, संगताः आयाः समायाः, सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम्— आय=अनर्थ अर्थात् प्राणिओं की हिंसा के हेतुभूत परिणाम; उस आय/अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना, समाय है; अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्मा के साथ एकीभूत होना, समाय है। उस समाय में होनेवाला अथवा वह समाय ही है प्रयोजन जिसका, वह सामायिक है।”

चारित्रसार ग्रंथ में इसे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है—“सम्यगेक-त्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मनः-कर्मणामात्मना सह वर्तना द्रव्यार्थेनात्मनः एकत्व-गमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्— अच्छी तरह से प्राप्त होना, एकत्वरूप से आत्मा में लीन होना, समय है; अपने-अपने विषयों से हटकर काय, वचन और मन की प्रवृत्ति का आत्मा के साथ वर्तना; द्रव्य और अर्थ द्वारा आत्मा के साथ एकत्व गमन है—यह इसका अर्थ है। ऐसा समय ही सामायिक है अथवा समय ही जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।”

सामायिक का अस्ति-नास्ति परक अर्थ स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीव-तत्त्व-प्रबोधिनी टीका में आचार्य अभयचंद्र सूरी लिखते हैं—“समं एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्त्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयमहं ज्ञाता दृष्टा चेति आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः, आत्मनः एकस्यैव

ज्ञेय-ज्ञायकत्वसंभवात्। अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजन-मस्येति सामायिकम्—सम् अर्थात् एकत्वरूप से, आय अर्थात् आगमन; अर्थात् पर-द्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति, समाय है। एक ही आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायकपना सम्भव होने से यह मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ—इसप्रकार से आत्मा में उपयोग रहना, इसका अर्थ है। अथवा सम् अर्थात् सम में/राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ आत्मा में, आय अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति, समाय है; वह समाय जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी इसे सर्वत्र सामयिक नाम देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि समस्त सावद्य-योगों, पर-पदार्थों से हटकर अपने उपयोग को आत्म-स्वरूप में लगाना/स्थिर करना, सामायिक है। इसमें व्यक्त वीतरागता, वास्तविक निश्चय सामायिक प्रतिमा है तथा सामा-यिक करने के शुभ-भाव और तदनुकूल शुभ-क्रियाएं, व्यवहार सामायिक प्रतिमा हैं।

प्रश्न ८: सामायिक प्रतिमा और सामायिक शिक्षाव्रत में क्या अन्तर है?

उत्तर : वैसे तो ये दोनों ही एक पंचम गुणस्थानवर्ती दशाएं हैं; तथापि इनमें कुछ अन्तर है। वह इसप्रकार है—

सामायिक प्रतिमा	सामायिक शिक्षाव्रत
१. यह एक स्वतंत्र मूलव्रत है।	यह व्रत प्रतिमा का एक अंश रूप शीलव्रत है।
२. यह तीसरी प्रतिमा होने से इसमें दूसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की हीनता और अतीन्द्रिय आनन्द की अधिकता है।	इसमें तीसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की अधिकता और अतीन्द्रिय आनन्द की हीनता होती है।
३. यह तीसरी प्रतिमा का मूलव्रत होने के कारण इस प्रतिमा का धारक जीव, नियम से तीन बार सामा-यिक करता है।	यह शील/अभ्यासरूप होने के कारण इसमें तीन बार का नियम नहीं है।

४. इसमें द्रव्य-भावमय विधि पूर्वक सामायिक होती है। इसमें कदाचित् अपवाद की स्थिति भी बन सकती है।
 ५. इसमें सामायिक निरतिचार है। इसमें यह अतिचार-सहित है।
 ६. तीन बार सामायिक नहीं करने पर शुद्धि नष्ट हो जाने से यह प्रतिमा ही नष्ट हो जाती है। इसमें यह सातिचार होने से कदाचित् नहीं कर पाने पर भी व्रत प्रतिमा नष्ट नहीं होती है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न ९ : प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए पूर्वोक्त तीन प्रतिमामय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न यह देश-संयमी, प्रत्याख्यानावरण आदि विकृतिओं की विद्यमानता के कारण सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर पाता है; तथापि प्रत्याख्यानावरण की मंदता होने से यह पर्व-तिथिओं में उनका पूर्णतया त्यागकर अपना पूरा समय धार्मिक क्रियाओं में ही व्यतीत करता है; यही प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“प्रथमहिं सामायिक दशा, चार पहर लौं होय।

अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।।६३।।

जहाँ पूर्व वर्णित सामायिक की दशा कम से कम चार प्रहर अर्थात् १२ घंटे और अधिक से अधिक आठ प्रहर अर्थात् २४ घंटे पर्यंत बनी रहती है, उसे प्रोषध प्रतिमा कहते हैं।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।

प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः।।१४०।।

प्रत्येक माह संबंधी चार पर्व दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध नियम को धारण करने वाला, शुभ-ध्यान में लीन रहने वाला, प्रोषधोपवास प्रतिमा-धारी है।”

प्रोषधोपवास का स्वरूप समझने के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा किए गए प्रोषधोपवास शब्द के व्युत्पत्ति-परक अर्थ भी द्रष्टव्य हैं। जो इसप्रकार हैं—

आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में लिखते हैं—
“चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।

स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति॥ १०९॥

चारों प्रकार के आहार का त्याग, उपवास और एक बार भोजन, प्रोषध कहलाता है। जो धारणा-पारणा के दिन प्रोषध पूर्वक घर के आरम्भादि को छोड़ उपवास प्रारम्भ करता है, वह प्रोषधोपवास है।”

इसका विश्लेषण आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार करते हैं—**“प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची।प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः—**प्रोषध शब्द, पर्व का पर्यायवाची है/प्रोषध का अर्थ पर्व है।..... पर्व में उपवास, प्रोषधोपवास है।”

कुमार कार्तिकेयस्वामी अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रंथ में प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के प्रकरण में गाथा ३५८-३५९ द्वारा प्रोषधोपवास को परिभाषित करते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है—**“जो श्रावक सदा दोनों पर्वों में स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप आदि का त्यागकर; वैराग्यरूपी भूषण से भूषित हो उपवास, एक बार भोजन या निर्विकृति भोजन करता है, वह प्रोषधोपवास व्रत है।”**

निष्कर्ष यह है कि प्रोषधोपवास में यथा-शक्ति भोजन-त्याग के साथ ही आरम्भ-परिग्रह का त्यागकर अपना उपयोग अधिकाधिक धर्म-ध्यान में लगाने की मुख्यता है। कितने समय पर्यंत ऐसी दशा रही—इसकी अपेक्षा इस प्रोषधोपवास के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—ये तीन भेद हैं। १६ प्रहर/४८ घंटे पर्यंत आरम्भ-परिग्रह के त्याग पूर्वक धर्म-ध्यान में उपयोग रहना, उत्कृष्ट; १२ प्रहर/३६ घंटे पर्यन्त रहना, मध्यम और ८ प्रहर/२४ घंटे पर्यन्त ऐसी अवस्था रहना, जघन्य प्रोषधोपवास है। इसकी विधि जानने-हेतु ‘वीतराग विज्ञान विवेचिका’, पृष्ठ २२२/२२६ का अध्ययन कीजिए।

प्रत्येक ज्ञानी व्रती श्रावक रात्रि में तो आरम्भ-परिग्रह का पूर्णतया त्यागी होता ही है; अतः कविवर पं. बनारसीदासजी ने उसे न गिनकर मात्र दिन के समय की अपेक्षा ही ८ प्रहर, ६ प्रहर और ४ प्रहर की गणना की है। इसप्रकार मुनि-दशा प्रगट करने में असमर्थ श्रावक, मुनि-मार्ग को ही श्रेयस्कर मानता हुआ संसार, शरीर और

भोगों से विरक्त रह पर्व दिनों में मुनिवत् जीवन जीता है। यह उसका प्रोषधोपवास व्रत है।

इसमें जो वीतरागतारूप वास्तविक धर्म है, वह निश्चय प्रतिमा है तथा उपवास आदि करने रूप शुभ-भाव और तदनुकूल क्रियाएं, उसकी निमित्त और सहचारी होने से व्यवहार प्रतिमा हैं।

प्रश्न १० : प्रोषधोपवास प्रतिमा और प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में क्या अन्तर है ?

उत्तर : वैसे तो ये दोनों ही एक पंचम गुणस्थानवर्ती दशाएं हैं; तथापि इनमें कुछ अन्तर है; वह इसप्रकार—

प्रोषधोपवास प्रतिमा	प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत
१.यह एक स्वतंत्र मूल व्रत है।	यह व्रत प्रतिमा का एक अंश रूप शील व्रत है।
२.यह चौथी प्रतिमा होने से इसमें दूसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की विशेष हीनता और अतीन्द्रियानन्द की अधिकता है।	इसमें चौथी प्रतिमावाले की अपेक्षा कषाय की अधिकता और अतीन्द्रिय आनन्द की हीनता होती है।
३.इस प्रतिमा में प्रोषधोपवास नियम से होने-योग्य कार्य है।	यह शील/अभ्यासरूप होने के कारण इसका नियम नहीं है।
४.इसमें समग्र विधि पूर्वक प्रोषधो-पवास होता है।	इसमें कदाचित् अपवाद की स्थिति भी बन सकती है।
५.यहाँ प्रोषधोपवास निरतिचार है।	इसमें यह सातिचार है।
६.विधिवत् प्रोषधोपवास नहीं करने पर शुद्धि नष्ट हो जाने से यह प्रतिमा ही नष्ट हो जाती है।	इसमें यह कदाचित् नहीं कर पाने पर भी व्रत प्रतिमा खण्डित नहीं होती है।
७.यह जघन्य में से मध्यम है।	यह जघन्य में से जघन्य है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न ११ : सचित्त-त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : सचित्त पद, स और चित्त से मिलकर बना है। स=सहित, चित्त=जीव; अर्थात् जीव-सहित पदार्थ, सचित्त कहलाते हैं। ऐसे

पदार्थों का त्याग, सचित्त-त्याग है। दर्शन-मोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट पूर्वोक्त चार प्रतिमामय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देश-संयमी के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की और अधिक मंदता हो जाने से बड़ी हुई वीतरागता के बल पर सचित्त पदार्थों के उपयोग का भाव समाप्त हो जाना, सचित्त-त्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार लिखते हैं—

“जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।

सो सचित्तत्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञागीर॥६४॥

जो सचित्त भोजन का त्यागी है, प्रासुक जल-पान करता है/ उपयोग में लेता है, वह पाँचवीं प्रतिमा का पालन करने में तत्पर सचित्त-त्यागी पुरुष/जीव है।”

आचार्य समतभद्र स्वामी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनवीजानि।

नामानि योऽन्ति सोऽयं सचित्त-विरतो दयामूर्तिः॥१४१॥

जो दया-मूर्ति मूल, फल, शाक, शाखा/डाली, करीर/कोंपल, कंद, फूल, बीज आदि का कच्चा/विना प्रासुक किए भक्षण नहीं करता है, वह सचित्त-त्यागी है।”

अपने-समान अन्य जीवों को माननेवाला यह संवेदन-शील देश-संयमी, साधारण और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का तो पहले से ही त्यागी था। अब वीतरागता, विशेष बड़ जाने के कारण संसार, शरीर, भोगों के प्रति विशेष उदासीनता व्यक्त हो जाने से प्रासुक किए विना अप्रतिष्ठित वनस्पति का भी भक्षण नहीं करता है। यद्यपि अप्रतिष्ठित सचित्त को अचित्त बनाने में भी प्राण-घात तो होता है; तथापि प्राण-घात का अभिप्राय नहीं होने से तथा प्राणी-संयम की अपेक्षा इंद्रिय-संयम में विशेषता होने से, वह उन्हें अचित्त/प्रासुक करके ही ग्रहण करता है। सचित्त पदार्थ को अचित्त/प्रासुक करने की पद्धति बताते हुए मूलाचार में लिखा है—

“सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल-लवणेण मिस्सयं दव्वं।

जं जंतेण य छिन्नं तं सव्वं पासुगं भणियं॥

सूखी, पकी, तपाई गई, खटाई या नमक आदि से मिश्रित तथा किसी यंत्र/चाकू आदि से छिन्न-भिन्न की गई सभी वस्तुएं, प्रासुक कहलाती हैं।”

इस प्रतिमा-धारी श्रावक के विद्यमान वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से, निश्चय प्रतिमा कहलाती है तथा उसके साथ रहने वाले, सचित्त पदार्थ का उपयोग नहीं करने रूप दयामय शुभ-भाव और तदनुकूल शुभ-प्रवृत्तिआँ, उसकी सहचारी और निमित्त होने के कारण, उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १२ : दिवा-मैथुन-त्याग प्रतिमा या रात्रि-भुक्ति-त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देश-संयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की विशिष्ट मंदता हो जाने से संसार, शरीर और भोगों संबंधी विशिष्ट अनासक्ति भाव व्यक्त हो जाने के कारण वह दिन में स्व-स्त्री के साथ भी मैथुन का त्यागी हो जाता है तथा नव-नव कोटि से रात्रि-भोजन का त्यागी हो जाता है। यह दिवा-मैथुन-त्याग या रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“जो दिन ब्रम्हचर्य व्रत पालै, तिथि आये निशि दिवस सँभालै।

गहि नव बाड़ करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या॥६५॥

जो दिन में ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है, पर्व-तिथियों में दिन-रात दोनों समय ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है, नव बाड़ पूर्वक इस व्रत की रक्षा करता है, वह छठवीं प्रतिमा-धारी श्रावक कहलाता है।”

इसप्रकार कविवर पं. बनारसीदासजी छठवीं प्रतिमा को दिवा-मैथुन-त्याग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस साधक जीव के दूसरी प्रतिमा में ब्रम्हचर्य अणुव्रत रूप स्व-दार-सन्तोषव्रत निरतिचार हो जाने के कारण पर-स्त्री संबंधी विकृत भाव आदि का तो पहले ही पूर्णतया अभाव हो गया था। तत्पश्चात् स्वरूप-स्थिरता में विशेष वृद्धि होते जाने से अब स्व-स्त्री के प्रति भी कुछ अनासक्ति का

परिणाम जागृत हो गया है; अतः अब दिन में पूर्ण ब्रम्हचर्य से रहता है। पर्व-तिथियों में तो विशिष्ट आत्म-साधना के लिए दिन-रात—दोनों में ही नव बाड़ पूर्वक ब्रम्हचर्य व्रत का पालन करता है; तथापि पूर्ण अनासक्ति भाव नहीं होने से अभी पूर्ण ब्रम्हचर्य का पालन नहीं कर पा रहा है।

महिलाओं का भी इसीप्रकार से समझ लेना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, आचार्य समन्तभद्र स्वामी आदि ने इस प्रतिमा को रात्रि-भुक्ति-त्याग नाम दिया है। इसका स्वरूप बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं—

“अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावयाम्।

स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनः॥१४२॥

प्राणिओं पर अनुकम्पारूप परिणाम को धारण करनेवाला जो पुरुष, रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य आदि का भक्षण नहीं करता है; वह रात्रि-भुक्ति-विरत श्रावक है।”

यद्यपि सम्यग्दर्शन से पूर्व विशुद्धि लब्धि या अष्ट मूलगुणों के पालन में रात्रि-भोजन का त्याग हो गया था; परन्तु वह स्थूल रूप में तथा अतिचार-सहित था। तदनन्तर पहली दर्शनिक प्रतिमा में स्व संबंधी रात्रि भोजन का त्याग निरतिचाररूप में भी हो गया था; परन्तु नव कोटि से त्याग नहीं होने के कारण अन्य संबंधी रात्रि-भोजन के पाप का भागी किसी न किसी रूप में हो रहा था। अब वीतरागता, विशेष बड़ जाने के कारण इस छठवीं प्रतिमा में वह, रात्रि-भोजन का पूर्णतया नव-नव कोटि से त्यागी हो गया है। अब उसके जीवन में किसी भी प्रकार का रात्रि-भोजन संबंधी अशुभ-भाव विद्यमान नहीं है; अतः इसे रात्रि-भुक्ति-विरति कहते हैं।

इसमें जो स्वरूप-स्थिरतारूप वीतरागता-सम्पन्न वास्तविक धर्म है, वह तो निश्चय छठवीं प्रतिमा है तथा दिवा-मैथुन या रात्रि-भुक्ति के त्यागरूप शुभ-भाव और तदनुकूल प्रवृत्तियों, उसके सहचारी और निमित्त होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १३ : ब्रम्हचर्य प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी

विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न देश-संयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं की विशिष्ट मंदता हो जाने से संसार, शरीर और भोगों संबंधी विशिष्ट अनासक्ति-भाव व्यक्त हो जाने के कारण, मैथुनरूप अशुभ-भाव पूर्णतया नष्ट होकर, स्त्री मात्र से उदासीन हो, आत्म-स्वरूप में रमणतारूप ब्रम्हचर्य-भाव व्यक्त हो जाता है; यह ब्रम्हचर्य नामक सातवीं प्रतिमा है।

पं.बनारसीदासजी वहीं, छंद ६६वें में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“जो नव बाड़ि सहित विधि साधै, निशदिन ब्रम्हचर्य आराधै।

सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता, शील शिरोमणि जग विख्याता॥

जो नव बाड़-सहित विधि पूर्वक, दिन-रात ब्रम्हचर्य की आराधना करता है, वह जगत-विख्यात, शील-शिरोमणि ज्ञाता जीव, सप्तम प्रतिमा-धारी है।”

धान्यमय फसल की सुरक्षा के लिए खेत में सब ओर लगाए जानेवाले कटीले तार आदि को बाड़ कहते हैं; इससे पशु, शत्रु आदि से खेत सुरक्षित हो जाता है। निम्नलिखित नव सावधानियों आत्मारूपी खेत में उत्पन्न हुए अतींद्रिय आनन्दमय ब्रम्हचर्य रूपी फसल को सुरक्षित रखती हैं; अतः उन्हें नव बाड़ कहते हैं। वे इसप्रकार हैं—

- १.स्त्रियों के समागम में नहीं रहना।
- २.उन्हें राग/विकार-दृष्टि से नहीं देखना।
- ३.उनसे परोक्ष में विकारमय संभाषण, पत्राचार आदि नहीं करना।
- ४.पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना।
- ५.कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना।
- ६.कामोत्पादक साज-शृंगार आदि नहीं करना।
- ७.स्त्रियों के आसन, पलंग, बिस्तर आदि पर नहीं बैठना, नहीं सोना।
- ८.कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना।
- ९.भूख से कुछ कम भोजन करना।

महिला को ये सभी पुरुषों के संबंध में समझ लेना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र स्वामी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम्।

पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रम्हचारी सः॥१४३॥

जो इस शरीर को मलरूपी बीज से उत्पन्न हुआ, मल को ही उत्पन्न करनेवाला, मल को ही बहानेवाला, महा-दुर्गन्धमय और घृणा के स्थान रूप में देखता हुआ अनंग/विषय-विकार से विरक्त हो जाता है, वह ब्रम्हचारी है।”

निष्कर्ष यह है कि स्वरूप-स्थिरता से व्यक्त वीतरागतामय अतीन्द्रिय आनन्द के बल पर विषय-विकारों से निवृत्त हो जाना, ब्रम्हचर्य प्रतिमा है। यह जीव गृहस्थी में रहता हुआ परिस्थिति-वश भूमिकानुसार आजीविका आदि गृह-कार्य करता हुआ भी अपनी निष्कषाय-वृत्ति के कारण पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति विरक्त रहता है।

इसमें व्यक्त हुई वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय ब्रम्हचर्य प्रतिमा है तथा नव-बाड़ पूर्वक मैथुन मात्र के त्यागरूप शुभ भाव तथा तदनुकूल प्रवृत्तिआँ, उसकी निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से ब्रम्हचर्य प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १४ : ब्रम्हचर्य प्रतिमा और ब्रम्हचर्याणुव्रत में क्या अन्तर है?

उत्तर : वैसे तो ये दोनों एक पंचम गुणस्थान के ही भेद होने से समान हैं; तथापि इनमें स्वरूपगत कुछ अन्तर है; वह इसप्रकार है—

ब्रम्हचर्य प्रतिमा	ब्रम्हचर्याणुव्रत
१. यह छह प्रतिमागत शुद्धि-सम्पन्न वृद्धिगत शुद्धिमय सातवीं प्रतिमा है।	यह आठ मूलगुणों में सातिचार और दूसरी प्रतिमा से निरतिचार पलने वाला अणुव्रत है।
२. इसमें शुद्धता अधिक है।	इसमें शुद्धता कम है।
३. इसमें प्रत्याख्यानावरणादि विशेष मंद हैं।	इसमें वे विशेष मंद नहीं हैं।
४. यह मध्यम व्रती श्रावक है।	यह जघन्य व्रती श्रावक है।
५. इसमें संसार, शरीर, भोगों के प्रति विशेष विरक्तता है।	इसमें उन संबंधी विरक्तता कुछ कम है।
६. इसमें मैथुन-सेवन का पूर्ण त्याग है।	इसमें उसका पूर्ण त्याग नहीं है।
७. विवाह करना/कराना इसमें नहीं	इसमें विवाह करना/कराना हो

है।

८. इसमें संतानोत्पत्ति नहीं है।

९. इसमें किसी पर भी स्व पत्नी/पति का भाव नहीं है।

सकता है।

इसमें वह हो सकती है।

इसमें ऐसा भाव हो सकता है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न १५ : आरम्भ-त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देशसंयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के अत्यधिक मन्द हो जाने पर, संसार-शरीर-भोगों के प्रति तीव्र अनासक्त भाव हो जाने से तथा प्राणी-मात्र के प्रति दया का परिणाम प्रबल हो जाने से हिंसा आदि पापोत्पादक गृह-कार्य/आरम्भ करने का अशुभ परिणाम नष्ट हो जाता है, यह आरम्भ-त्याग प्रतिमा है। कविवर पण्डित बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।

सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ॥६८॥

जो विवेकपूर्ण पद्धति का आदर करता हुआ पापमय आरम्भ नहीं करता है, वह कुगति पर विजय पाने के लिए रण-स्तम्भ के समान, आत्म-वैभववान आठवीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।

प्राणातिपात-हेतोर्योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः॥१४४॥

जो जीव प्राण-अतिपात/प्राण-घात/हिंसा के कारणभूत सेवा/नौकरी, कृषि/खेती, वाणिज्य/व्यापार आदि आरम्भ का त्याग करता है, वह आरम्भ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

वास्तव में बाह्य धन-सम्पत्ति आदि रंच-मात्र भी सुख की कारण नहीं है; वह कमाने रूप अपने विकल्पों या श्रम से इकट्ठी भी नहीं होती है; सुरक्षा करने से सुरक्षित भी नहीं रहती है। उसका रहना या नहीं रहना, उसकी अपनी उपादानगत योग्यता तथा निमित्तरूप में पूर्व-बद्ध पुण्य-पाप कर्मों के उदयानुसार होता है। अपने विकल्पों

का, व्यर्थ की भाग-दौड़ का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।—यह सत्य तथ्य चारित्र के स्तर पर भी जीवन में समा जाने से अब इस ब्रती श्रावक के मन में, किसी भी प्रकार के पापारम्भ का परिणाम उत्पन्न नहीं होता है। यदि परिस्थिति-वश कभी कुछ आरम्भ करना भी पड़े तो अत्यन्त विरक्त-भाव से पूर्णतया विवेक पूर्वक, सावधानी रखते हुए अशक्य अनुष्ठान समझकर करता है।

यह ब्रती श्रावक, धन कमाने के कारणभूत व्यापार आदि का तो सर्वथा त्याग ही कर देता है। अपने संचित धन में से अपनी आवश्यकतानुसार कुछ धन को अपने पास रखकर शेष को स्त्री-पुत्रादि परिवार-कुटुम्बीजनों में, धर्मायतनों में, दीन-दुखियों में वितरित कर देता है। अपने लिए रखे हुए धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ शेष बचे हुए को साधर्मियों आदि के दुःख-निवारण आदि में लगाता है।

यदि अपने पास रखा हुआ धन, चोरी आदि के माध्यम से नष्ट हो जाए, तो पुनः कमाने का यत्न नहीं करता है, परिणामों में उदासीन भाव जागृतकर आगे ही बढ़ता है। ऐसे भावों-युक्त जीव आरम्भ-निवृत्त/त्याग नामक आठवीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।

इसमें विशिष्ट स्वरूप-स्थिरतारूप वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा व्यापार आदि आरम्भ नहीं करने रूप शुभ-भाव और तदनुकूल-प्रवृत्तियाँ, उस वीतरागता की निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १६ : परिग्रह-त्याग प्रतिमा को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के अभाव में प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देश-संयमी जीव के प्रत्याख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने पर संसार, शरीर, भोगों के प्रति तीव्र अनासक्त-भाव हो जाने से तथा आत्मा के विशेष परिग्रहण पूर्वक आत्म-वैभव में और भी अधिक संतुष्ट हो जाने से, वह अपने पास रखे हुए परिग्रह में से भी अत्यल्प रखकर शेष सभी का त्याग कर देता है, यह परिग्रह-त्याग प्रतिमा है। पण्डित बनारसीदासजी वही, ६९वें छन्द में इसे इसप्रकार लिखते हैं—

“जो दशधा परिग्रह कौ त्यागी, सुख सन्तोष सहित वैरागी।
समरस संचित किंचित् ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमावाही॥

जो दश प्रकार के परिग्रह का त्यागकर, सुख-संतोष पूर्वक वैरागी होकर, समता-भाव से अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं की सामान्य पूर्ति के लिए संचित परिग्रह में से अत्यल्प परिग्रह ग्रहणकर शेष सभी का त्याग कर देता है, वह परिग्रह-त्यागी श्रावक है।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी वही, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“बाह्येषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।

स्वस्थः संतोषपरः, परिचित्परिग्रहाद्विरतः॥१४५॥

बाह्य दश वस्तुओं में ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व में रत, स्वस्थ, सन्तोषी जीव, परिचित परिग्रह से भी विरत हो जाता है।”

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन अथवा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, दास-दासी आदि मनुष्य, गाय-भैंस आदि पशु, शैया-आसन आदि सोने-बैठने के साधन, यान-वाहन आदि गमनागमन के साधन, वस्त्र और बर्तन—ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। इनका होना, नहीं होना सुख-दुःख का कारण नहीं है। अपने से पूर्णतया भिन्न पर-पदार्थ होने से ये अपने अधीन नहीं हैं।

ये अपनी-अपनी योग्यतानुसार और निमित्तरूप से पूर्व-बद्ध कर्मों के उदयानुसार अपने सान्निध्य में रहते हैं, जीव की इच्छानुसार नहीं। इनके प्रति मेरा ममत्व ही दुःखमय तथा दुःख का कारण है और निर्ममता ही सुखमय तथा सुख की कारण है इत्यादि भावनाओं के बल पर यह साधक जीव, अपने लिए उपयोगी अति आवश्यक, अत्यल्प पदार्थों को अपने पास रखकर शेष सभी परिग्रह का पूर्णतया त्याग कर देता है।

अत्यल्प रखे हुए परिग्रह को उपयोग में लेने के भाव को, अपनी अनधिकृत चेष्टा समझनेवाला, समस्त इच्छाओं तथा दीनता-हीनता से रहित, कर्मोदयानुसार यथा-लब्ध आहार, स्थान, वस्त्र आदि में सन्तुष्ट रहने वाला यह साधक प्राप्त-परिग्रह के प्रति अनासक्त-भाव रखता हुआ, पूर्ण अपरिग्रही होने की सतत भावना भाता हुआ, स्वरूप-स्थिर रहने का प्रयास करता हुआ, सतत सम-रसी-भाव में निमग्न रहता

है। यह परिग्रह-त्याग नामक नवमीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।

इसमें व्यक्त वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा समस्त परिग्रह के त्याग रूप शुभ-भाव और तदनुकूल शुभ-प्रवृत्तियाँ, उस वीतरागता की निमित्त या सहचारी होने के कारण उपचार से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १७ : परिग्रह-त्याग प्रतिमा और परिग्रह-परिमाण व्रत में क्या अन्तर है?

उत्तर : वैसे तो ये दोनों एक पंचम गुणस्थान के ही भेद होने से समान हैं; तथापि इनमें स्वरूपगत कुछ अन्तर है; वह इसप्रकार—

परिग्रह-त्याग प्रतिमा	परिग्रह-परिमाण व्रत
१. यह आठ प्रतिमागत शुद्धि-सम्पन्न वृद्धिगत शुद्धिमय नवमीं प्रतिमा है।	यह आठ मूलगुणों में सातिचार तथा दूसरी प्रतिमा से निरतिचार पलनेवाला अणुव्रत है।
२. इसमें वीतरागता अधिक है।	इसमें वीतरागता, उससे कम है।
३. शेष कषायें भी इसमें बहुत मंद हैं।	इसमें वे उतनी मंद नहीं हैं।
४. यह मध्यम व्रती श्रावक है।	यह जघन्य व्रती श्रावक है।
५. यह व्यापार, सेवा आदि कार्य का पूर्ण त्यागी है।	परिग्रह का परिमाण होने पर भी यह व्यापार, सेवादि करता है।
६. इसके पास मात्र अपनी अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यल्प परिग्रह है।	परिमाण होने पर भी घर-कुटुम्ब के परिपालन की दृष्टि से इसके पास परिग्रह बहुत है।
७. यह आरम्भ-परिग्रह से रहित मात्र ज्ञानदान, अभयदान देता है।	यह सत्पात्रों को आरम्भ-परिग्रह-मय आहारादि दान भी देता है।
८. इसमें संसार, शरीर भोगों संबंधी विशेष विरक्तता होने से यह विशेष त्यागी है। रखा परिग्रह समाप्त हो जाने पर यह नियम से आगे ही बढ़ता है।	इसमें इन संबंधी विशेष विरक्तता नहीं है। ऐसी स्थिति में यह उसे पुनः पाने का भी प्रयास कर सकता है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में अन्तर है।

प्रश्न १८ : अनुमति-त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकृतिओं के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देश-संयमी जीव के नवमीं प्रतिमावाले की अपेक्षा प्रत्या-ख्यानावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने से आरम्भ-परिग्रह संबंधी कार्यों में अनुमति देने का भी भाव नहीं आता है, यह अनुमति-त्याग प्रतिमा-धारी श्रावक है।

कविवर बनारसीदासजी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“पर कौं पापारम्भ कौ, जो न देई उपदेश।

सो दशमीं प्रतिमा सहित, श्रावक विगत क्लेश॥७०॥

जो अन्य को पाप संबंधी आरम्भ का उपदेश नहीं देता है, वह क्लेश/खेद/दुःख-रहित दशमीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी वहीं, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।

नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः सः मन्तव्यः॥१४६॥

जो आरम्भ में, परिग्रह में; विवाह करना, घर बनाना, व्यापार-नौकरी करना इत्यादि इस लोक संबंधी कार्य में अनुमति नहीं देता है, वह सम-बुद्धिवाला अनुमति-विरत जानना चाहिए।”

वास्तव में प्रत्येक संसारी प्राणी अपने द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है। कोई अन्य उसके कर्मों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। उस जीव को अपनी भवितव्यता के अनुसार ही शुभ-अशुभ करने के भाव उत्पन्न होते हैं। उनके लिए किसी का भी सुझाव, आज्ञा, उपदेश, समझ, अनुभव, इच्छा आदि किंचित् भी कार्य-कारी नहीं है—यह तथ्य चारित्र के स्तर पर भी जीवन में समा जाने के कारण इस व्रती श्रावक को अन्य के पापारम्भ-सम्पन्न कार्यों में सुझाव, मार्ग-दर्शन, अनुमति आदि देने रूप अशुभ-भाव उत्पन्न नहीं होता है।

वास्तव में अन्य को सुझाव आदि देने से उसमें कुछ परिवर्तन तो होता नहीं है; पाप की अनुमोदना आदि से व्यर्थ ही पाप-बंध हो जाता है—इस तथ्य के बल पर यह श्रावक व्यापार, विवाह, घर,

वस्त्र, भोजन आदि किन्हीं भी कार्यों में, किन्हीं भी व्यक्तियों को मार्ग-दर्शन आदि नहीं देता है। अपनी-अपनी करनी का फल प्रत्येक को भोगना पड़ता है, इनके कार्यों में उलझकर मैं अपना उपयोग व्यर्थ क्यों करूँ ? इस चिंतन के बल पर प्रत्येक परिस्थिति में समता-भाव धारण करता हुआ, सतत अकर्तृत्व भाव की भावना पुष्ट करता रहता है। यह दशमीं अनुमति-त्याग प्रतिमा है।

इसमें प्रगट हुई वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा अनुमति आदि नहीं देने रूप शुभ-भाव और शुभ-प्रवृत्तियाँ, निश्चय प्रतिमा की सहचारी और निमित्त होने से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न १९ : उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : दर्शन-मोहनीय, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादि विकारी भावों के अभाव पूर्वक प्रगट हुए सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न देश-संयमी जीव के दशमीं प्रतिमावाले की अपेक्षा प्रत्याख्या-नावरण संबंधी विकृतिओं के और भी अधिक मन्द हो जाने से परिवार, कुटुम्ब आदि के मध्य में रहने का भाव तथा अपने लिए बनाए गए भोजन, आवास आदि को ग्रहण करने का भी भाव समाप्त हो जाता है, यह उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा है।

पण्डित बनारसीदासजी वही, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“जो सुछंद वरतै तज डेरा, मठ मंडप में करै बसेरा।

उचित आहार उदंड विहारी, सो एकादश प्रतिमाधारी॥७१॥

जो अपने घर से स्वतंत्र हो/घर को छोड़कर मठ, मंडप आदि में निवास करता है; अनुद्दिष्ट, पूर्ण शुद्ध, यथा-लब्ध आहार-विहार आदि करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमा-धारी श्रावक है।”

आचार्य समन्तभद्र स्वामी वही, इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं—

“गूहतो मुनि-वन-मित्वा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।

भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल - खण्ड - धरः॥१४७॥

जो घर को छोड़कर, मुनिराज के समीप जाकर, गुरुओं के सान्निध्य में व्रतों को ग्रहण कर, भिक्षा-वृत्ति से भोजन करता हुआ, तपश्चरण करता है, वह चेल-खण्ड-धारी उत्कृष्ट श्रावक है।”

इस प्रतिमा में प्रत्याख्यानावरण का अत्यल्प अत्यंत मंद उदय होने से, पंचम-गुणस्थानवर्ती वीतरागता सर्वाधिक बड़ गई है। निर्विकल्प दशा भी शीघ्र-शीघ्र होने लगी है तथा कुछ अधिक काल पर्यन्त टिकने लगी है। संसार, शरीर, भोगों के प्रति उदासीनता भी बहुत अधिक बड़ गई है; अतः अब यह श्रावक घर में नहीं रहता है। यद्यपि यह पूर्णतया नग्न दिगम्बर दशा का इच्छुक है; तथापि अभी पुरुषार्थ की कुछ कमजोरी होने से, प्रत्याख्यानावरण का कुछ अंश विद्यमान होने से, अपनी असमर्थता समझता हुआ खंड-वस्त्र धारण करता है।

जिसे ओड़ने से पैर ढकने पर शिर नहीं ढक सके तथा शिर ढकने पर पैर नहीं ढक सके—ऐसे अपने शरीर की लम्बाई से कम लम्बे वस्त्र को खण्ड-वस्त्र कहते हैं। जो अपने लिए बनाए गए भोजन, निवास आदि को ग्रहण नहीं करता है। अपने लिए किसी भी पदार्थ की याचना नहीं करता है, भोजन के लिए निमंत्रण से या बुलाने पर नहीं जाता है। यह पदार्थ मेरे लिए बनाया गया है—ऐसा आभास होने मात्र से भी उस पदार्थ को छोड़ देता है। इसे उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा-धारी कहते हैं।

इस उत्कृष्ट श्रावक के भी दो भेद हैं—ऐलक और क्षुल्लक। ऐलक दशा में पिच्छी, कमण्डलु के साथ तन पर एक कोपीन/विशेष प्रकार की लंगोटी भी होती है। आहार, मुनिराजों के समान कर-पात्र (हाथ रूपी बर्तन) में होने पर भी मुनिराजों के समान खड़गासन से नहीं होता है, वरन् पद्मासन से बैठकर लेते हैं। शेष केश-लॉच आदि चर्या मुनिराजों के समान है; तथापि ये उत्कृष्ट श्रावक अणुव्रती ही हैं, महाव्रती नहीं हैं; अतः मुनिराजों के योग्य विनय-व्यवहार इनके प्रति नहीं होता है। इच्छाकार, इच्छामि आदि द्वारा इनके प्रति विनय-व्यवहार होता है।

क्षुल्लक दशा में कमण्डलु के स्थान पर धातु का बर्तन तथा पिच्छी के स्थान पर अत्यंत मुलायम सूती वस्त्र भी हो सकता है तथा तन पर कोपीन के साथ एक खंड-वस्त्र भी होता है। ये पद्मासन से बैठकर किसी एक बर्तन में आहार लेते हैं तथा केश-लॉच न कर, हजामत भी बना सकते हैं।

नौ-नौ कोटि पूर्वक उद्दिष्ट आहार, वसतिका आदि के त्यागी;

गृह-त्यागी और शेष आरम्भ-परिग्रह के त्यागी; दोनों ही हैं।

महिलाओं में इन भेदों को क्रमशः आर्यिका और क्षुल्लिका नाम से कहा जाता है। आर्यिका आठ मीटर की सूती सफेद एक साड़ी से तथा क्षुल्लिका इसके ही साथ एक खण्ड-वस्त्र से अपना तन ढँकती हैं। शेष समस्त चर्या क्रमशः ऐलक और क्षुल्लक के समान ही होती है।

इन सभी की चर्या मुनिराजों की अपेक्षा कुछ ही कम होने के कारण इन्हें उपचार से महाव्रती कहने पर भी प्रत्याख्यानवरण कषाय विद्यमान होने से इनके पंचम गुणस्थान ही है। ये गृह-विरत होने पर भी उत्कृष्ट-श्रावक-श्राविका ही हैं; छठवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनि नहीं हैं; अतः इनके प्रति विनय-व्यवहार मुनिराजों के समान नहीं होता है। इनकी अष्ट द्रव्य से पूजन नहीं होती है, इन्हें साष्टांग नमस्कार भी नहीं किया जाता है, मात्र इच्छाकार आदि किया जाता है।

इसप्रकार उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा-धारी ये सर्वोत्कृष्ट श्रावक, शेष श्रावकों के शिरोमणि तथा आदर्श हैं। वीतरागता की वृद्धि होने पर इसके बाद मुनि दशा ही आती है।

इसमें प्रगट वीतरागता, वास्तविक धर्म होने से निश्चय प्रतिमा है तथा शेष शुभ-भाव और तदनुकूल शुभ-प्रवृत्तिआँ उसकी निमित्त और सहचारी होने से व्यवहार प्रतिमा कहलाती हैं।

प्रश्न २० : निश्चय प्रतिमा और व्यवहार प्रतिमा का अंतर लिखिए?
उत्तर : वास्तव में प्रतिमारूप कोई भी दशा, निश्चय या व्यवहार प्रतिमारूप नहीं होती है; उस प्रतिमारूप दशा के निरूपण में निश्चय और व्यवहार प्रतिमा—ये दो भेद हैं। इस निरूपण की मुख्यता से विषय-विषयी का अभेद कर उन भावों को भी निश्चय-व्यवहार प्रतिमा कह देते हैं। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है—

निश्चय प्रतिमा	व्यवहार प्रतिमा
१. दर्शन-मोहनीय, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानवरण क्रोधादि के अभाव में व्यक्त हुई वीतरागता, निश्चय प्रतिमा है।	शेष रहे प्रत्याख्यानवरण क्रोधादि के उदय में होनेवाले शुभ भाव और तदनुकूल शारीरिक क्रियाएं, व्यवहार प्रतिमा हैं।
२. यह स्वयं शुद्ध-भाव होने से	यह वास्तव में पुण्यास्रव, पुण्य-

— पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक...

वास्तविक मोक्ष-मार्ग, संवर-निर्जरा तत्त्व है।

३. यह अंतरंग परिणति होने से इसकी नकल संभव नहीं है।
४. यह मनुष्य-तिर्यचरूप सभी व्रती श्रावकों के लगभग एक समान होती है।
५. यह स्वयं निराकुलतामय तथा पूर्ण निराकुलता का कारण है।
६. इसकी पहिचान बाह्य प्रवृत्तिओं से नहीं की जा सकती है।
७. यह पंचम गुणस्थान में ही होती है।

इत्यादि प्रकार से इन दोनों में बहुत अन्तर है।

卐

आतम रूप अनुपम अद्भुत...

आतम रूप अनुपम अद्भुत, याहि लखैं भव सिंधु तरो हो॥टेक॥
अल्पकाल में भरत चक्रधर, निज आतम को ध्याय खरो हो।
केवलज्ञान पाय भवि बोधे, ततछिन पायौ लोकशिरो हो॥१॥
या बिन समुझे द्रव्य-लिंग मुनि, उग्र तपनकर भार भरो हो।
नवग्रीवक पर्यंत जाय चिर, फेर भवार्णव माहिं परो हो॥२॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, येहि जगत में सार नरो हो।
पूरब शिव को गए जाहिं अब, फिर जैहैं, यह नियत करो हो॥३॥
कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवानी उचरो हो।
'दौल' ध्याय अपने आतम को, मुक्तिरमा तब वेग बरो हो॥४॥

आज मैं परम पदारथ पायौ...

आज मैं परम पदारथ पायौ, प्रभु-चरनन चित लायौ॥टेक॥
अशुभ गये शुभ प्रगट भयेहैं, सहज कल्पतरु छायौ॥१॥
ज्ञान-शक्ति तप ऐसी जाकी, चेतन-पद दरसायो॥२॥
अष्टकर्म रिपु जोधा जीते, शिव अंकूर जमायौ॥३॥
'दौलतराम' निरख निज प्रभो को उर आनंद न समायौ॥४॥

— तत्त्वज्ञान विवेचिका भाग एक

पाठ ५ : सुख क्या है ?

प्रश्न १ : अज्ञानी जीव किस-किसको सुख मानता है ? तथा वैसा मानना मिथ्या/गलत क्यों है ?

उत्तर : अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल स्वभावी वास्तविक सुख की पहिचान नहीं होने से अज्ञानी जीव विविध रूपों में सुख की कल्पना किया करता है; जो इसप्रकार हैं—

अ. अज्ञानी जीव भोग-सामग्री की प्राप्ति को सुख तथा भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानता है। उसका मानना है कि पंचेन्द्रिय विषय-भोगों के योग्य इष्ट-सामग्री की सतत उपलब्धि ही सुख-समृद्धिमय दशा है। ईमानदारी पूर्वक अधिक परिश्रम करने से, अधिक अन्न उत्पन्न करने से, औद्योगिक-वैज्ञानिक उन्नति करने से देश में समृद्धि बढ़ने पर एक दिन ऐसा होगा जब प्रत्येक के पास खाने के लिए पौष्टिक आहार, पहिने के लिए ऋतुओं के अनुकूल उत्तम वस्त्र, निवास के लिए वैज्ञानिक सुविधाओं से युक्त आधुनिक बंगला आदि समस्त सामग्री उपलब्ध होगी और सभी सुखी हो जाएंगे। निष्कर्ष यह है कि उसके अनुसार भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है तथा भोग-सामग्री-प्राप्त करने के साधन ही सुखी होने के साधन हैं।

सुख के सन्दर्भ में उसकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है—

१. यह सभी भोग-सामग्री पूर्णतया जड़, सुख-स्वभाव से रहित होने के कारण हमें सुखी करने में सक्षम नहीं है; क्योंकि जो जिसके पास स्वयं नहीं है, वह उसे दूसरों को नहीं दे सकता है।

२. संवेदन-योग्य दशाओं में लेन-देन का व्यवहार सम्भव नहीं होने के कारण कोई किसी को सुख-दुःख नहीं दे सकता है।

३. बाह्य सामग्रियों का संयोग कर्माधीन होने से, उन्हें मात्र अपनी इच्छा के अनुसार, अपने पुरुषार्थ द्वारा इकट्ठा नहीं किया जा सकता है।

४. संसार में किसी के भी एक मात्र पुण्य का उदय सम्भव नहीं होने से बाह्य सामग्री सतत उपलब्ध रह ही नहीं सकती है।

५. जो देश इस समृद्धि की चरम-सीमा छूने लगे हैं; जहाँ प्रत्येक

व्यक्ति के पास ये सभी सुविधाएं हैं; वे भी सुख-शान्ति का अनुभव कहाँ कर रहे हैं? वे भी सतत अशान्त, भयाक्रान्त हैं; तनाव-युक्त, दुःख का ही अनुभव करते हुए, सुखी होने का मार्ग शोध रहे हैं।

इत्यादि कारणों से यह सिद्ध है कि भोग-सामग्री की प्राप्ति को सुख तथा भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानना मिथ्या है।

ब. कुछ लोगों का मानना है कि सुख-दुःख तो अपनी मनो-कल्पना है। अपने विचारों से हम सुखी हो सकते हैं और अपने ही विचारों से हम दुःखी रह सकते हैं। जैसे—दो मंजिल वाले मकान के मालिक किसी व्यक्ति के एक ओर पाँच मंजिल मकान है और दूसरी ओर टूटी झोपड़ी। यदि वह पाँच मंजिल वाले से अपनी तुलना करता है तो दुःखी रहता है तथा यदि टूटी झोपड़ी वाले से अपनी तुलना करता है तो सुख का अनुभव करता है। इसप्रकार उसका कहना यह है कि यदि सुखी रहना है तो सदा अपने से नीचे वालों को देखो; सुख-दुःख भोग-सामग्री में नहीं, अपनी विचार-धारा में है। अपने विचार बदलकर, अपना दृष्टि-कोण परिवर्तित कर हम सुखी हो सकते हैं। सुखी होना है तो दीन-हीनों की ओर देखो।

सुख के सन्दर्भ में उनकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है—

१. क्या सुख वास्तव में काल्पनिक ही है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है ? यदि नहीं; तो काल्पनिक उड़ानों में उड़ते रहने वाले व्यक्ति को तो लोक में भी अच्छा नहीं माना जाता है; लोक भी उसका अनुकरण करना नहीं चाहता है, तब सुख के क्षेत्र में वह आदर्श कैसे हो सकता है ?

२. दीन-दुखियों को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते हैं। दुखियों को देखकर ऐसी कल्पना करके स्वयं को सुखी मानना कि मैं इनसे तो अच्छा हूँ—उनके दुःख के प्रति अकरुणा भाव तो है ही; साथ ही मान कषाय की पुष्टि में संतुष्ट होने की स्थिति भी है। इसे सुख तो कोई बुद्धिमान-विचारक कभी भी नहीं मान सकता है।

३. क्या सुख उस टूटी झोपड़ी में या दीन-हीनों में भरा हुआ है, जो उनकी ओर देखने से व्यक्त हो जाएगा ?

वास्तव में यहाँ भी भोग-जनित सुख को ही सुख मानकर बात की गई है, जो सर्वथा मिथ्या है।

स. सुख के सन्दर्भ में कुछ लोगों का मानना यह है कि कुछ विशिष्ट कार्य करके मनो-कामना पूर्ण होने से, इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर हम सुखी हो जाएंगे। वे इच्छाओं की पूर्ति को सुख और इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने को दुःख मानते हैं।

उनकी यह मान्यता निम्नलिखित कारणों से गलत है—

१. इच्छाओं की पूर्ति होना कभी सम्भव ही नहीं है; कारण कि अनन्त जीवों में से प्रत्येक की इच्छाएं अनन्त हैं और भोग-सामग्री सीमित ही है।

२. एक इच्छा की पूर्ति होते ही तत्काल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसप्रकार प्रपातवत् कभी समाप्त नहीं होने वाला, इच्छाओं का प्रवाह-क्रम सतत गतिमान रहने के कारण नित्य बदलती नवीन इच्छाओं की पूर्ति कभी सम्भव ही नहीं है।

३. इच्छाओं की पूर्ति में सुख मानना तो शिर के भार को कन्धे पर रखकर सुख मानने के समान काल्पनिक है।

इसप्रकार समस्त इच्छाओं की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं होने के कारण, इच्छाओं की पूर्ति में सुख मानना मिथ्या है।

द. कितने ही लोगों का मानना है कि जितनी-जितनी इच्छाएं पूर्ण होती जाती हैं, उतना-उतना सुख होता जाता है; इसलिए वे सतत इच्छाओं को पूरा करने में लगे रहते हैं। उनका मानना है कि इच्छा की पूर्ति हो जाने पर वह नष्ट हो जाने से हम सुखी हो जाते हैं।

ऐसा मानना भी निम्नलिखित कारणों से यथार्थ नहीं है—

१. वास्तव में एक इच्छा पूरी होने के साथ ही अन्य इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं; अतः सुख के स्थान पर आकुलता अधिक बड़ जाती है।

२. अभी भी इच्छा की पूर्ति से हम सुख का अनुभव नहीं करते हैं; वरन् इच्छा की कमी से (इच्छाओं के आंशिक अभाव से) सुख का अनुभव करते हैं।

३. इच्छाओं की पूर्ति कर्माधीन, संयोगाधीन होने से उनमें सतत पराधीनता रूप दुःख का ही वेदन होता रहता है।

४. इसमें भोग-जन्य दुःख के तारतम्य रूप भेदमय काल्पनिक सुख को ही सुख माना जा रहा है।

इसप्रकार आत्मोत्पन्न, स्वाधीन इच्छाओं की अनुत्पत्तिरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय वास्तविक सुख की पहिचान नहीं होने के कारण, सुख के सन्दर्भ में मानी गई अज्ञानी की सभी मान्यताएं मिथ्या हैं।

प्रश्न २ : वास्तविक सुख क्या है? वह कहाँ और कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर : अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाला, इंद्रियातीत, विषयातीत, स्वाधीन, आत्म-संतुष्टिरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है। इंद्रियों द्वारा भोगा जाने वाला विषय-सुख आकुलतामय, पराधीन होने से वास्तव में सुख नहीं है; दुःख का ही एक भेद है। लौकिक जन उसे सुख कहते हैं; अलौकिक ज्ञानी जन भी उन्हें समझाने के लिए उनकी ही भाषा में उसे सुख कह देते हैं; पर वे यही मानते तथा समझाते भी हैं कि यह सुख नहीं है, सुखाभास है, दुःख की थोड़ी सी कमी है तथा विषय-तृष्णा को बड़ानेवाला होने से दुःख का कारण भी है। वास्तविक सुख तो एक-मात्र आत्मोत्पन्न निराकुलतारूप ही है।

आत्मा स्वयं सुख-स्वभावी होने के कारण यह सुख, आत्मा का एक विशेष गुण है। अनादि-अनन्त आत्मा में ही रहता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता है। जैसे—ज्ञान आत्मा का गुण होने से आत्मा में ही रहता है; उसी प्रकार सुख आत्मा का गुण होने से आत्मा में ही रहता है।

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ है ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहाँ सम्भावना ही नहीं है; वहाँ उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का गुण है; अतः उसकी प्राप्ति चेतनात्मा में ही होती है, जड़ में नहीं; उसीप्रकार 'सुख' भी आत्मा का गुण है, जड़ पदार्थों का नहीं; अतः उसकी प्राप्ति आत्मा में ही होती है, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं।

जिसप्रकार यह आत्मा स्वयं को ज्ञान का घन-पिण्ड न मानकर, ज्ञान की आशा से अन्यत्र भटकता हुआ अज्ञानी हो रहा है;

उसीप्रकार यह आत्मा स्वयं को सुख का सागर/आनन्द का कन्द नहीं मानता हुआ, सुख की आशा से पर-पदार्थों में भटकता हुआ दुःखी हो रहा है। इसप्रकार सुख प्राप्त करने की दिशा गलत होने से दशा गलत/दुःख रूप चल रही है।

आत्मा स्वयं सुख का सागर, आनन्द का कन्द है, आनन्दमई निराकुल तत्त्व है; अतः निराकुल सुख प्राप्त करने के लिए परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर; आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, इसमें स्थिरता ही एक-मात्र कर्तव्य है। आत्मा, स्वयं सुखमय होने से वास्तव में सुख प्राप्त नहीं करना है; भोगना है। आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, उसमें ही लीनता/संतुष्टि/तृप्ति सर्वस्व समर्पणता ही आत्मानुभूति/सुखानुभूति है; सम्यक् रत्नत्रय है; निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द को पर्याय में प्रगट करने/पाने का एक-मात्र उपाय है।

प्रश्न ३ : सुख क्या है ? इस विषय पर एक निबंध लिखिए।

उत्तर : अनादि काल से प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से भय-भीत है। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सुखी होने का सतत प्रयत्न भी करता है; परन्तु सुख का वास्तविक स्वरूप तथा वह सुख कहाँ से, कैसे प्राप्त किया जाता है ? यह ज्ञात नहीं होने के कारण यह जीव उसे प्राप्त नहीं कर पा रहा है।

यह खाने-पीने, पहिनने-ओड़ने, घूमने-फिरने, मजा-मौज करने आदि रूप पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में प्रवृत्ति को ही सुखमय दशा मानता है, उस विषय-सामग्री को सुख-सामग्री मानता है तथा उस सामग्री को एकत्रित करने, पाने के साधनों को सुख के साधन मानता है; परन्तु यह इतना विचार नहीं कर पाता है कि जो स्वयं सुखमय नहीं हैं, जिनमें सुख नामका गुण नहीं है, वे मुझे सुख कहाँ से, कैसे दे देंगे ? यही कारण है कि वह सब विषय-सामग्री प्राप्त कर लेने के बाद भी यह जीव, पूर्ववत् आकुल-व्याकुल तथा दुःखी है।

कुछ विशिष्ट बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति तो सुख को काल्पनिक ही मान लेते हैं। उनका विचार रहता है कि अपने से अधिक सुख-

सुविधा-सम्पन्न व्यक्ति को देखने से दुःख बड़ता है; अतः सुखी रहने के लिए सदा अपने से नीचे वालों को देखो तो अपनी स्थिति बहुत अच्छी लगेगी और हम सुखी रहेंगे; परन्तु वे इतना विचार नहीं कर पाते हैं कि दीन-हीनों को देखकर स्वयं को सुखी माननेवाला तो लौकिक सज्जन भी नहीं है। दीन-दुखियों को देखकर तो सामान्य विचारक भी दयार्द्र हो उठता है और मैं इससे अपना बड़प्पन पुष्ट कर सुखी अनुभव कर रहा हूँ। वास्तव में इसमें भी भोग-सामग्री से ही सुख को मापा गया होने से, निराकुल सुख की पहिचान नहीं होने के कारण इस विचार-धारा वाले भी सतत सुखी होने का प्रयास करते हुए भी आकुल-व्याकुल, दुःखी ही रहते हैं।

कुछ लोग इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख मानकर सतत इच्छाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं; परन्तु इच्छाएं असीम होने से तथा भोग-सामग्री सीमित होने से, वे इस प्रयास में भी असफल ही रहते हैं; इससे भी वे आकुल-व्याकुल, दुःखी ही रहते हैं।

कुछ लोगों का विचार ऐसा है कि भले ही एक साथ सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो सके; तथापि क्रम-क्रम से जितनी-जितनी इच्छाओं की पूर्ति होती जाएगी, उतने-उतने हम सुखी होते जाएंगे; इसलिए वे इच्छाओं की पूर्ति का सतत प्रयास करते रहते हैं; परन्तु एक इच्छा पूर्ण होते साथ ही अनेक इच्छाएं उत्पन्न हो जाने से इस प्रयास में भी वे सफल नहीं हो पाते हैं। इससे भी वे आकुल-व्याकुल, दुःखी ही बने रहते हैं। इसमें भी भोगों को ही सुख माना गया है, वास्तविक सुख की पहिचान करने का प्रयत्न भी नहीं किया गया है।

वास्तव में तो इच्छा की पूर्ति में भासित होनेवाला सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, दुःख की अत्यल्प कमी मात्र है; आकुलतामय तथा आकुलता का उत्पादक है। इन सभी मान्यताओं में दुःख को ही सुख मानकर, उसे प्राप्त करने का प्रयास किया गया है; वास्तविक सुख की पहिचान करने का भी प्रयास नहीं किया गया है।

वास्तविक सुख का स्वरूप तथा प्रगट करने का उपाय बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार ग्रन्थ की १३वीं गाथा में लिखते हैं—

“अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिन्नं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥

शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं का सुख अतिशय, आत्मात्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अविच्छिन्न है।”

इससे विपरीत लोक-मान्य इंद्रिय-सुख का स्वरूप बताते हुए वे वहीं, गाथा ७६वीं में लिखते हैं—

“सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तथा॥

इंद्रियों से प्राप्त सुख पराधीन, बाधा-सहित, विच्छिन्न, बंध का कारण और विषम है; वास्तव में ऐसा सुख, दुःख ही है।”

आचार्य अमृतचंद्रदेव समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में सुख शक्ति का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं—“अनाकुलत्व-लक्षणा सुखशक्तिः—अनाकुलता लक्षणवाली सुख-शक्ति है।”

निष्कर्ष यह है कि अपने आत्मा से उत्पन्न होने वाला, इंद्रियातीत, विषयातीत, स्वाधीन, आत्म-सन्तुष्टिरूप अतींद्रिय आनन्दमय अनाकुल/निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है। इससे विपरीत पंचेंद्रिय विषय-भोग-जन्य, कहा जाने वाला सुख, दुःख ही है; सुख नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति से प्रगट होने वाला सुख, सुख नहीं है; वरन् इच्छाओं की अनुत्पत्ति/अभाव में/इच्छाओं के नहीं होने में व्यक्त होनेवाला निराकुल सुख ही वास्तविक सुख है।

आत्मा स्वयं ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त-अनन्त गुण/वैभव-सम्पन्न होने से स्वयं ज्ञानानन्द-स्वभावी है। आत्मा स्वयं आनन्द का कन्द, सुख का सागर है। मैं स्वयं सुख-स्वभावी हूँ। मुझे सुखी होने के लिए अन्य कुछ भी नहीं चाहिए; सुख पाने के लिए अन्यत्र कहीं नहीं जाना है। जो जहाँ होता है, वह वहीं से प्राप्त होता है। मैं/आत्मा स्वयं सुख-स्वभावी हूँ; अतः अपनी पर्याय में सुख प्रगट करने के लिए ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा/स्वयं को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर रहना है, इस मय रहना है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार की २०६वीं गाथा द्वारा इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं—

“एदमिह रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदमिह।
एदेण होहि तित्तो, होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं॥

इस (ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा) में ही रत/प्रीतिवाला हो, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इसमें ही तृप्त हो; इससे तुम्हें उत्तम सुख होगा।”

आनन्द आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने आत्मा को अपनत्वरूप से ग्रहण कर लेने पर ज्ञानी को अन्य कुछ इच्छाएं स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती हैं; अतः वह सतत पर से पूर्ण निरपेक्ष निराकुल अतींद्रिय आनन्द का वेदन करता हुआ स्वयं में संतुष्ट रहता है; यही वास्तविक सुखमय दशा है।

ज्ञानी की आत्म-संतुष्टि को आचार्य अमृतचंद्रदेव समयसार-आत्मख्याति के कलश १४४वें द्वारा इसप्रकार व्यक्त करते हैं—

“अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थ-सिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥

क्योंकि यह (ज्ञानी) स्वयं ही अचिन्त्य-शक्तिवाला देव और चिन्मात्र चिन्तामणि है; इसलिए सभी अर्थ/प्रयोजन सिद्ध होने के स्वभाववाला होने से ज्ञानी अन्य के परिग्रह का क्या करेगा ? अर्थात् स्वयं में ही, स्वयं का सब कुछ, स्वयं से ही, स्वयं को सदा-सदा के लिए ही उपलब्ध हो जाने से ज्ञानी को अन्य कुछ भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती है; वह सतत निराकुल अतींद्रिय आनन्द का पान करता है।”

इसप्रकार समस्त पर-पदार्थों से पूर्णतया निरपेक्ष, स्वाधीन, शाश्वत, निराकुल, अतींद्रिय आनन्द ही वास्तविक सुख है। आत्मा/मैं/स्वयं शाश्वत सुख स्वभावी होने से यह आत्म-स्थिरता से ही पर्याय में प्रगट होता है; अतः सुखी होने के लिए तत्त्व-अभ्यास पूर्वक स्व-पर का भेद-विज्ञान कर; समस्त पर-पदार्थों को, विकल्पों को गौणकर स्वरूप-लीन रहने का, आत्म-संतुष्ट रहने का सतत प्रयास करना चाहिए। यही सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न साधक दशा है; आत्मानुभूति, सुखानुभूतिमय अवस्था है। इस प्रयास की पूर्णता अर्थात् परिपूर्ण स्वरूप-स्थिरता ही अव्याबाध-सुखमय दशा है। अनादि-अनन्त अव्याबाधी आनन्दमय अपनी शाश्वत सत्ता में समग्र संतुष्टि ही सुख-शान्ति-सम्पन्न जीवन है।

卐

पाठ ६ : पंच भाव

प्रश्न १ : आचार्य उमास्वामी का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए?

उत्तर : “तत्त्वार्थ-सूत्र-कर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसन्जातमुमास्वामी मुनीश्वरम्॥”

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र ग्रंथ से जैन-समाज जितना अधिक परिचित है, उतना ही उनके जीवन-चरित्र से अपरिचित है। आपके संबंध में इतना ही ज्ञात है कि आप कुन्दकुन्दाचार्य के पट्ट-शिष्य थे तथा विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में अपनी वीतरागता, विद्वत्ता से भारत-भूमि को अलंकृत कर रहे थे।

आपका नाम पूर्ण प्रामाणिक आचार्यों की परंपरा में आचार्य कुंदकुंददेव के समान अग्र-गण्य व सर्व-मान्य है। आपके द्वारा रचित एक-मात्र ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र, संस्कृत भाषा का तथा गद्य शैली का इस युग का सर्व-प्रथम ग्रंथ है। प्रस्तुत ग्रंथ जैन-धर्म संबंधी सभी सम्प्रदायों को एक समान प्रामाणिकरूप में मान्य है। जो महत्त्व वैदिक धर्म में गीता का, क्रिश्चियन धर्म में बाइबिल का और मुस्लिम धर्म में कुरान का है; वही महत्त्व जैन-धर्म में ‘तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र’ का है। सर्व-मान्य होने से तथा संक्षेप में जैन-धर्म की समग्र जानकारी करानेवाला होने से, यह ग्रंथ जैन-समाज द्वारा संचालित समस्त परीक्षा-बोर्डों के पाठ्य-क्रम में रखा गया है तथा सभी जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

मात्र तीन सौ सत्तावन सूत्रों में निबद्ध यह ग्रंथ, वास्तव में जैन-दर्शन की समग्र प्रतिपाद्य विषय-वस्तु का सूची-ग्रंथ के समान है। दश अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में सात तत्त्व, नव पदार्थों का वर्णन है। पहले से चौथे अध्याय पर्यन्त जीव तत्त्व का, पाँचवें में अजीव तत्त्व का, छठवें और सातवें में पाप-पुण्यरूप आस्रव तत्त्व का, आठवें में बंध तत्त्व का, नवमें में संवर और निर्जरा तत्त्व का तथा दशवें में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है।

अन्य ग्रंथों के प्रथम शब्द-परक नामों के समान यह ग्रंथ

‘मोक्षमार्गस्य नेतारं’—इत्यादि मंगलाचरण में मोक्ष शब्द से प्रारम्भ होने के कारण ‘मोक्षशास्त्र’ नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

इस ग्रंथ की महिमा के संबंध में निम्नलिखित श्लोक प्रचलित है—

“दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

दश अध्यायों से सहित तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक उपवास का फल प्राप्त होता है;—ऐसा मुनिराजों में श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा कहा गया है।”

इस कथन के संदर्भ में विचारणीय बात यह है कि इसे पढ़ने से एक उपवास का फल कैसे मिल जाएगा ? परन्तु जब हम इसकी प्रतिपाद्य विषय-वस्तु पर दृष्टिपात करते हैं, तो शंका के लिए कहीं अवकाश नहीं रह जाता। इस लघु-काय ग्रंथ में वास्तविक मोक्षमार्ग-मोक्ष का स्वरूप, बंधमार्ग-बंध का स्वरूप तथा जीवादि सभी द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को बताकर, उनमें बननेवाले पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की घोषणा करते हुए अत्यंत स्पष्टता से वस्तु की स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा अनंत वैभव-सम्पन्नता का उद्घोष किया गया है। अत्यंत सरल और स्पष्ट शब्दों में विश्व-व्यवस्था और वस्तु-व्यवस्था का निरूपण है। विविध परिणामों का फल भी स्पष्टरूप में प्ररूपित है—इत्यादि विषयों के प्रतिपादक इस ग्रंथ का यदि हम एकाग्रता पूर्वक गंभीरता से पाठ करेंगे, तो इच्छा के निरोधमय स्वरूप-स्थिररूप तप नियम से प्रगट होगा।

आचार्य उमास्वामी ने इस ग्रंथ में स्वाध्याय के क्रमिक अंगों की चर्चा करते हुए लिखा है कि वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा के बाद आमनाय अर्थात् पाठ का क्रम आता है। जिसने पाठ करने के स्तर तक विश्व-व्यवस्था और वस्तु-व्यवस्था को समझ लिया है, हृदयंगम कर लिया है; उसके सहज ही पर-संबंधी एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि भावों; इच्छाओं का अभाव हो जाता है—इसप्रकार उसके सहज ही तप, तप का एक भेद अनशन घटित हो जाता है।

सूत्रात्मक शैली में तथा विषय-वस्तु का मुख्यतया मात्र नामोल्लेख करते हुए संक्षिप्त गंभीर शैली में लिखा गया होने से इस ग्रंथ पर, इसकी विषय-वस्तु का विवेचन करनेवाली सर्वाधिक टीकाएं, वृत्तिआँ,

वार्तिक, भाष्य आदि सभी भाषाओं में लिखे गए हैं। इनमें सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थ-वृत्ति, अर्थ-प्रकाशिका आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। इन सबके गंभीर अध्ययन से यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की विषय-वस्तु स्पष्ट हो जाती है; तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि न जाने अभी और भी कितने रहस्य इन सूत्रों में भरे पड़े हैं।

इसप्रकार यह लघु-काय ग्रंथ स्वयं में सागर के समान अगाध गंभीरता को गर्भित किए हुए है। परवर्ती सम्पूर्ण साहित्य के बीजभूत, इस ग्रंथ का तल-स्पर्शी अध्ययन, मनन, चिंतन ही इसे समझने का एक-मात्र उपाय है।

प्रश्न २ : लोक तथा जिनागम में भाव पद किन-किन अर्थों में आता है ? उनमें से प्रस्तुत पाठ में कौन-सा अर्थ लिया गया है ?

उत्तर : लोक में भाव पद किसी वस्तु का धन से मूल्यांकन करने, मान कषाय की वृद्धि होने इत्यादि अर्थ में आता है।

जिनागम में भाव पद का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। उनमें से कुछ प्रमुख अर्थ इसप्रकार हैं—

१. निरुक्ति परक अर्थ : भवनं भवतीति वा भावः—होना मात्र या जो होता है, वह भाव है। राजवार्तिक।।

भवनं भावः, भूतिर्वा भावः इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति—‘होना’ यह भाव शब्द का व्युत्पत्ति-परक अर्थ है। धवला।।

२. गुण और पर्याय—दोनों के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

३. चित्त में उत्पन्न होनेवाले विकारों के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

४. शुद्ध-भाव या शुद्ध-भाव के कारणभूत आत्म-रुचि आदि के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

५. पंचास्तिकाय संग्रह, १०७वीं गाथा की समय-व्याख्या टीका में भाव पद का प्रयोग नव पदार्थों के अर्थ में किया गया है।

६. अनन्त धर्मात्मक वस्तु की विद्यमानता के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

७. स्व-चतुष्टयात्मक वस्तु के एक अंश स्व-भाव को बताने के लिए भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

८. द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक समग्र वस्तु के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग हुआ है।

९. समयसार-परिशिष्ट में वर्णित ४७ शक्तिओं में से ३३वीं और ३९वीं शक्ति क्रमशः “भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः—विद्यमान अवस्था-युक्तारूप भावशक्ति” और “कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः—कारकों के अनुसार होने वाली क्रिया से रहित होने मात्रमई भावशक्ति”—के रूप में भाव शब्द का प्रयोग हुआ है।

१०. कर्म सापेक्ष जीव-परिणामों के अर्थ में भी भाव पद का प्रयोग किया गया है।

इत्यादि अनेकानेक अर्थों में भाव पद का प्रयोग जिनागम में मिलता है।

इनमें से यहाँ दशवाँ अर्थात् कर्म-सापेक्ष जीव-परिणामों के अर्थ में भाव पद को लिया गया है।

प्रश्न ३ : भाव के भेद-प्रभेदों की संख्या तथा नाम लिखिए ?

उत्तर : भाव के पाँच भेद हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। आचार्य उमास्वामीदेव तत्त्वार्थसूत्र, द्वितीय अध्याय, सूत्र १ में इसे इसप्रकार लिखते हैं—**औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च।**

इन पाँच भेदों के प्रभेदों की संख्या बताते हुए वे वहीं, सूत्र २ में लिखते हैं—**द्विन्वाष्टादशैकविंशतिभिर्भेदाः यथाक्रमम्—** यथाक्रम से इनके दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

वहीं, सूत्र ३ द्वारा औपशमिक भाव के दो भेद बताते हुए वे लिखते हैं—**सम्यक्त्वचारित्रे—** औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र।

वहीं, सूत्र ४ द्वारा क्षायिक भाव के नौ भेद बताते हुए वे लिखते हैं—**ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च—** क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन/केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा च पद से पूर्वोक्त ग्रहण करना अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र।

वहीं, सूत्र ५ द्वारा क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद बताते हुए वे लिखते हैं—**ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च—** ज्ञान चार—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय;

अज्ञान तीन—कु मति, कु श्रुत, कु अवधि/विभंगावधि; दर्शन तीन—चक्षु, अचक्षु, अवधि; लब्धि पाँच—क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र; संयमासंयम।

वहीं, सूत्र ६ द्वारा औदयिक भाव के इक्कीस भेद बताते हुए वे लिखते हैं—**गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्यैकैकैकषड्भेदाः**—गति चार—नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव; कषाय चार—क्रोध, मान, माया, लोभ; लिंग तीन—पुरुष, स्त्री, नपुंसक; मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयत एक, असिद्ध एक; लेश्या छह—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

वहीं, सूत्र ७ द्वारा पारिणामिक भाव के तीन भेद बताते हुए वे लिखते हैं—**जीवभव्याभव्यत्वानि च**—जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व।

इसप्रकार औपशमिक आदि पाँच भेदों के कुल त्रेपन प्रभेद हैं।
प्रश्न ४ : औपशमिक भाव का और उसके भेदों का स्वरूप लिखिए?
उत्तर : उनका स्वरूप इसप्रकार है—

“**उपशमः प्रयोजनमस्येति औपशमिकः**—जिस भाव का उपशम प्रयोजन है, वह औपशमिक है।” सर्वार्थसिद्धि।

“**तेषामुपशमादौपशमिकः**—उनके उपशम से होनेवाला भाव, औपशमिक है।” धवला।।

“**उपशमेन युक्तः औपशमिकः**—उपशम से युक्त भाव, औपशमिक है।” पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ५६वीं की समय-व्याख्या टीका।।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के श्रद्धा और चारित्र संबंधी जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है अथवा मोहनीय कर्म के उपशम के समय आत्मा में जो भाव होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक में मूल शब्द ‘उपशम’ है। उपशम के साथ संबंध-वाचक ‘ठञ्’ प्रत्यय का प्रयोगकर ‘समाज से सामाजिक के समान’ उपशम से औपशमिक पद बन जाता है।

जीव के भाव और कर्मों के मध्य पारस्परिक, घनिष्ठतम, सहज बननेवाला निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से तथा अमूर्तिक, सूक्ष्म जीव

के अमूर्तिक, सूक्ष्म भावों को पहिचानने का छद्मस्थ जीव के पास और कोई साधन नहीं होने से मूर्तिक, स्थूल कर्म की अवस्थाओं द्वारा जीव के भावों का परिचय जिनागम में कराया जाता है। जीव और कर्म—दोनों में ही पूर्ण स्वतंत्रता पूर्वक अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमन होने पर भी काल-प्रत्यासत्ति के कारण (दोनों के कार्य एक ही समय में हुए होने से) एक का दूसरे पर आरोप कर दोनों ओर से कथन कर दिया जाता है।

इसप्रकार जीव के जिन शुद्ध-भावों का निमित्त पाकर मोहनीय कर्म का उपशम होता है, उसकी फल देने की शक्ति दब जाती है, उन्हें; अथवा कर्म के उपशम के समय होनेवाले शुद्ध-भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। आठ कर्मों में से उपशम दशा, मात्र मोहनीय कर्म में ही होती है। मोहनीय कर्म के मूलतया दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय—ये दो भेद होने से तथा इनका संबंध क्रमशः जीव के श्रद्धा और चारित्र गुण के साथ होने से इसके भी दो भेद हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

१. औपशमिक-सम्यक्त्व : जीव के जिन शुद्ध-भावों का निमित्त पाकर दर्शन-मोहनीय की एक-दो या तीन और चारित्र-मोहनीय की अनन्तानुबंधी संबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ—इन चार प्रकृतिओं का उपशम होता है, उन्हें; अथवा इन कर्म प्रकृतिओं की उपशम दशा के समय प्रगट हुए जीव के शुद्ध-भाव को औपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

इसके भी दो भेद हैं—प्रथम औपशमिक/प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीय औपशमिक/द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। उपशम-श्रेणी की योग्यता विकसित होने के पूर्व मिथ्यात्व का उपशम कर होनेवाले औपशमिक-सम्यक्त्व को प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और उपशम-श्रेणी आरोहण की योग्यता विकसित होने के समय क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व पूर्वक होनेवाले औपशमिक-सम्यक्त्व को द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व कहते हैं।

२. औपशमिक चारित्र : जीव के जिन वीतरागी शुद्ध-भावों का निमित्त पाकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम होता है, उन्हें; अथवा इस उपशम दशा के समय प्रगट हुए जीव के शुद्ध-भावों को/यथाख्यात

चारित्र को औपशमिक-चारित्र कहते हैं।

इसप्रकार औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

प्रश्न ५ : क्षायिक भाव का और उसके भेदों का स्वरूप लिखिए?

उत्तर : उनका स्वरूप इसप्रकार है—“**क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकः—**जिस भाव का क्षय प्रयोजन है, वह क्षायिक है।”

“**तेषां क्षयाद् क्षायिकः—**उन कर्मों के क्षय से होनेवाला भाव, क्षायिक है।”

“**क्षयेन युक्तः क्षायिकः—**क्षय से युक्त भाव, क्षायिक है।”

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन शुद्ध भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षय होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की क्षय रूप दशा के समय होनेवाले जीव के शुद्ध-भावों को क्षायिक भाव कहते हैं। ‘क्षय’ शब्द के साथ संबंध वाचक ठञ् प्रत्यय का प्रयोग कर क्षायिक पद बनता है।

‘कर्मों का क्षय होता है’ अर्थात् कर्मों की अकर्म-दशा हो जाती है। अब उस क्षायिक-भाव से परिणमित जीव के साथ उनका किसी भी प्रकार का निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं रह जाता है। आगे अनंत-काल पर्यंत कभी भी कर्म रूप से उनका निमित्त-नैमित्तिक संबंध, उस जीव के साथ नहीं होगा। कर्मरूप परमाणुओं की सत्ता नष्ट हो जाना, क्षय शब्द का अर्थ नहीं समझना; क्योंकि किसी भी विद्यमान वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता है; मात्र उसकी अवस्थाएं बदल जाती हैं। इसप्रकार कर्म की अकर्मरूप दशा हो जाना ही कर्म के क्षय का अर्थ है। यह दशा आठों कर्मों की होती है।

क्षायिक भाव के ९ भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है—

१. क्षायिक-ज्ञान/केवलज्ञान : ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से ज्ञानावरण कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञान गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-भाव कहते हैं। यह अलोकाकाश-सहित तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को; उनकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक; द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सम्पूर्ण विशेषताओं को मात्र अपनी ही सामर्थ्य द्वारा प्रत्यक्षरूप से एक साथ जानता हुआ आत्म-ज्ञानमई सर्वज्ञ, केवलज्ञान कहलाता है। जगत का कोई भी

पदार्थ किसी भी रूप में इस ज्ञान से अज्ञात/अजाना नहीं रह सकता है। इसमें विश्व की समस्त सत्ताओं का विशेष प्रतिभास होता है।

२. क्षायिक-दर्शन/केवलदर्शन : ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त-वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से, दर्शनावरण कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए दर्शन-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-दर्शन कहते हैं। यह अलोकाकाश सहित तीनकाल-तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को; उनमें कुछ भी भेद किए बिना, निर्विशेष, निर्विकल्प, सामान्यरूप से एक साथ अवलोकन करनेवाला आत्म-दर्शनमई सर्वदर्शी केवलदर्शन कहलाता है। इससे विश्व की समस्त सत्ताओं का सामान्य प्रतिभास होता है।

३. क्षायिक-दान : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण लीनता से, दानान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए दान-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-दान कहते हैं। अपने शुद्ध-स्वरूप का स्वयं को दान देने रूप वास्तविक दान और अनन्त जीवों को शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति में निमित्त होने, अपनी ओर से अनन्त जीवों को निश्चित कर देने रूप अभय-दानमय औपचारिक दान के रूप में इस क्षायिक-दान का कार्य व्यक्त होता है।

४. क्षायिक-लाभ : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से लाभान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए लाभ-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-लाभ कहते हैं। अपने शुद्ध-स्वरूप का स्वयं को लाभ होना, वास्तविक लाभ और अन्य मनुष्यों को अनुपलब्ध, शारीरिक-बल को स्थिर रखने में कारणभूत, अत्यंत शुभ, सूक्ष्म नोकर्म रूप परिणमित होने वाले अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रति समय संबंध होने रूप औपचारिक लाभ के रूप में इस क्षायिक-लाभ का कार्य व्यक्त होता है।

५. क्षायिक-भोग : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से भोगान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए भोग-गुण के परिपूर्ण विकसित

भाव को क्षायिक-भोग कहते हैं। अपने शुद्ध-स्वभाव का स्वयं को सतत भोग होना, वास्तविक भोग और पुष्प-वृष्टि आदि विशिष्ट अतिशयों की प्राप्तिमय औपचारिक भोग के रूप में इस क्षायिक-भोग का कार्य व्यक्त होता है।

६. क्षायिक-उपभोग : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से उपभोगान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए उपभोग-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-उपभोग कहते हैं। अपने शुद्ध-स्वभाव का स्वयं को सतत उपभोग होने रूप वास्तविक उपभोग और छत्र, चँवर, सिंहासन आदि विशिष्ट विभूतियों की प्राप्तिमय औपचारिक उपभोग के रूप में इस क्षायिक-उपभोग का कार्य व्यक्त होता है।

७. क्षायिक-वीर्य : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-लीनता से वीर्यान्तराय कर्म की क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए वीर्य-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-वीर्य कहते हैं। अपने शुद्ध-स्वभाव में उत्कृष्ट सामर्थ्यरूप से प्रवृत्तिमय वास्तविक वीर्य और विश्व की समस्त परिस्थितियों के ज्ञाता-दृष्टा होने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नहीं होने रूप औपचारिक वीर्य रूप में इस क्षायिक-वीर्य का कार्य व्यक्त होता है।

८. क्षायिक-सम्यक्त्व : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप में दृढ़तम प्रतीति से, दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी चतुष्क—इन सात प्रकृतियों की क्षय रूप दशा के समय व्यक्त हुए श्रद्धा-गुण के परिपूर्ण विकसित भाव को क्षायिक-सम्यक्त्व कहते हैं। तीन लोक को क्षुब्ध करने में सक्षम प्रतिकूलतम परिस्थिति भी इसकी प्रतीति को परिवर्तित करने में सक्षम नहीं होती है। सभी गुणों का परिणमन इसका ही अनुगामी होने से तथा इसमें कदापि विकृति नहीं होने से ही सिद्ध भगवान, लौटकर संसार में नहीं आते हैं।

९. क्षायिक-चारित्र : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-स्थिरता से, चारित्र-मोहनीय

कर्म की पूर्ण क्षयरूप दशा के समय व्यक्त हुए चारित्र-गुण के परिपूर्ण विकसित यथाख्यात चारित्ररूप भाव को क्षायिक-चारित्र कहते हैं। समस्त लोकालोक को जानते-देखते होने पर भी इसके कारण कभी भी अतींद्रिय निराकुल सुख खण्डित नहीं होता है।

इसप्रकार क्षायिक-भाव के नौ भेद हैं।

प्रश्न ६ : क्षय संबंधी भावों को क्षायिक-भाव कहते हैं; क्षय आठों कर्मों का होता है; तब फिर क्षायिक-भाव के उन सभी संबंधी भेद क्यों नहीं किए गए हैं ? ये नौ भेद ही क्यों किए गए हैं ?

उत्तर : क्षय संबंधी भावों को क्षायिक-भाव कहते हैं; क्षय आठों ही कर्मों का होता है—ये दोनों ही सत्य तथ्य हैं; सभी कर्मों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अंत में सिद्ध दशा की व्यक्तता के समय होता है। वहाँ उन संबंधी आठ भाव/गुण जिनागम में वर्णित भी हैं; तथापि यहाँ उस अपेक्षा को गौणकर मात्र चार घाति-कर्म से रहित, अनन्त चतुष्टय-सम्पन्न अरहंत भगवान की अपेक्षा इसके भेद किए गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय संबंधी क्षायिक-ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय संबंधी क्षायिक-दर्शन, मोहनीय के क्षय संबंधी क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र तथा पाँच प्रकृतिवाले अंतराय के क्षय संबंधी क्रमशः क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिक-वीर्य—इन्हें नौ लब्धिआँ भी कहते हैं।

मात्र चार घाति कर्मों के क्षय की मुख्यता से क्षायिक-भाव के भेद करने के कुछ कारण इसप्रकार हैं—

१. प्रत्येक प्राणी अनंत-सुख चाहता है। वह अघाति-कर्मों के क्षय के विना ही मात्र घाति-कर्मों के क्षय में भी प्रगट हो जाता है; अतः इनकी मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

२. मात्र इनके क्षय में ही परम-पूज्य परमात्मा दशा/भगवत अवस्था/आदर्श स्थिति प्रगट हो गई है; अतः इनकी मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

३. इनके क्षय के लिए जैसा बुद्धि पूर्वक अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ होता है; वैसा अघाति-कर्मों के क्षय के लिए नहीं होता है; अतः घाति कर्मों की मुख्यता से ही ये भेद किए गए हैं।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से घाति-कर्मों के क्षय की मुख्यता से क्षायिकभाव के भेद किए गए होने से उनके नौ ही भेदों का वर्णन है।
प्रश्न ७ : यहाँ घाति-कर्मों की अपेक्षा क्षायिक भाव के भेद किए हैं—यदि ऐसा है; तब फिर घाति-कर्म की मूल ४ और उत्तर ४७ प्रकृतिआँ होने के कारण क्षायिक-भाव के ४ या ४७ भेद होना चाहिए। यहाँ ९ भेद ही क्यों किए हैं?

उत्तर : घाति-कर्म की ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये ४ मूल प्रकृतिआँ हैं तथा इन्हीं की क्रमशः ५, ९, २८ और ५—कुल ४७ उत्तर-प्रकृतिआँ हैं। अरहन्त दशा में इन सभी का क्षय हो गया है; अतः इन संबंधी ४ या ४७ भेद वाले क्षायिक-भाव होना चाहिए—यह प्रश्न होना स्वाभाविक है; परन्तु यहाँ ये दोनों ही भेद न लेकर ९ भेद लिए हैं। जिसका कारण इसप्रकार है—

यहाँ मोक्ष-मार्ग और अरहन्त-दशा की महिमा बताने की मुख्यता से क्षायिक-भाव का निरूपण है। मोक्ष-मार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र प्रधान हैं। इनके मुख्य प्रतिपादक; क्षायिक वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान हैं। क्षायिक-सम्यक्त्व-सम्पन्न क्षायिक वीतरागता के विना भी क्षायिक-सम्यक्त्व सुरक्षित रहता है तथा क्षायिक-चारित्र के साथ तो क्षायिक-सम्यक्त्व रहता ही है। इनका संबंध मोहनीय के साथ है। क्षपक श्रेणी के आरोहक ही यह दशा प्राप्त करते हैं; अतः मोहनीय के दर्शन-मोहनीय और चारित्र मोहनीय—इन दो भेदों के पृथक्-पृथक् क्षय की अपेक्षा इन संबंधी क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र—इन दो भावों को पृथक्-पृथक् गिना है।

ज्ञानावरण की पाँचों प्रकृतिओं का एक साथ क्षय होकर क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञान प्रगट होता है, अतः उसे लिया है।

दर्शनावरण की ९ प्रकृतिओं का क्षय यद्यपि एक साथ नहीं होता है; तथापि उन सभी के क्षय में मात्र एक क्षायिक दर्शन/केवल दर्शन प्रगट होता है; अतः उसे गिना है।

अन्तराय-कर्म की पाँचों प्रकृतिओं का क्षय एक साथ होकर यद्यपि एक अनन्त-वीर्य प्रगट होता है; परन्तु उसका कार्य बाह्य अलौकिक दानादि पाँच रूपों में व्यक्त होता है। जन-सामान्य उन्हें समझकर अरहंत

परमेष्ठी की महिमा से अभिभूत हो वस्तु-स्वरूप समझने के लिए तत्पर हो जाता है; अतः उन पाँचों को पृथक्-पृथक् गिना है।

इसप्रकार घाति-कर्म के क्षय में प्रगट हुए क्षायिक-भाव के विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि-हेतु ९ भेद किए हैं। उसके ४ भेद करने पर विषय स्पष्ट नहीं हो पाता और ४७ भेद करने पर निष्प्रयोजनीय अति-विस्तार हो जाता; अतः मध्यम-वृत्ति को अपनाकर क्षायिक भाव के ९ भेद किए हैं।

प्रश्न ८ : भेदों सहित क्षायोपशमिक भाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उनका स्वरूप इसप्रकार है—

“क्षयोपशमः प्रयोजनमस्येति क्षायोपशमिकः—जिस भाव का क्षयोपशम प्रयोजन है, वह क्षायोपशमिक है।”

“तेषां क्षयोपशमाद् क्षायोपशमिकः—उन कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाला भाव, क्षायोपशमिक है।”

“क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः—क्षयोपशम से युक्त भाव, क्षायोपशमिक है।”

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन मिश्र भावों का निमित्त पाकर कर्मों का क्षयोपशम होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की क्षयोपशम रूप दशा के समय होने वाले जीव के विकसित-अविकसितरूप मिश्र भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

अनुभाग की अपेक्षा घाति-कर्म में देश-घाति और सर्व-घाति—इन दो स्वभावों वाली प्रकृतिआँ होती हैं। सर्व-घाति-प्रकृतिओं के वर्तमान-कालीन स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय, आगामी-कालीन स्पर्धकों के सदवस्थारूप उपशम और देश-घाति-प्रकृतिओं के उदय की स्थितिमय कर्म की अवस्था, क्षयोपशम कहलाती है।

‘क्षयोपशम’ पद के साथ संबंध वाचक ठञ् प्रत्यय का प्रयोग कर ‘क्षायोपशमिक’ पद बनता है। मुख्यतया ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य—इन चार गुणों में ही मिश्र अवस्था होने से तथा उन संबंधी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—इन चार घाति कर्मों में ही क्षयोपशम दशा होने से क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद हो जाते हैं। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार है—

मति आदि चार ज्ञान : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें आंशिक स्थिरता से, ज्ञानावरण आदि कर्मों की क्षयोपशम रूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञान-गुण के विकसित-अविकसित रूप भावों को, जानने-योग्य पदार्थ तथा जानने की प्रक्रिया की अपेक्षा मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान रूप क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं।

कुमति आदि तीन अज्ञान : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की विराधनाकर पर-पदार्थों को अपना मानते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए ज्ञान-गुण के विकसित-अविकसित रूप भावों को मिथ्यात्व पूर्वक जानने-योग्य पदार्थ तथा जानने की प्रक्रिया की अपेक्षा कुमति-ज्ञान, कुश्रुत-ज्ञान, विभंगावधि/कुअवधि-ज्ञानरूप क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं।

चक्षु आदि तीन दर्शन : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण संतुष्टि के अभाव में, दर्शनावरण आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए दर्शन-गुण के सामान्य प्रतिभास करने में समर्थ विकसित-अविकसित भावों को इंद्रिय और पदार्थ की अपेक्षा चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन और अवधि-दर्शन क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं। (मति आदि चार, कुमति आदि तीन और चक्षु आदि तीन—इन दश भावों की चर्चा 'वीतराग विज्ञान विवेचिका' के 'उपयोग' नामक पाठ में प्रथम संस्करण पृष्ठ १६६ से १७० तथा द्वितीय संस्करण पृष्ठ १७० से १७४ पर्यंत की गई है; यहाँ पुनः उस प्रकरण का अध्ययन कर लीजिए।)

दान आदि पाँच लब्धिआँ : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण संतुष्टि के अभाव में अन्तराय आदि कर्मों की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए दान आदि गुणों के विकसित-अविकसित रूप भावों को दान-लब्धि, लाभ-लब्धि, भोग-लब्धि, उपभोग-लब्धि, वीर्य-लब्धिरूप क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं। ज्ञान-आनन्द आदि स्वभाव की व्यक्त

सामर्थ्य के रूप में, दान आदि की सामर्थ्य के रूप में इनका कार्य व्यक्त होता है।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसकी प्रतीति से; मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्ता-नुबन्धी चतुष्क के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशममय अनुदय पूर्वक सम्यक्त्व प्रकृति के उदयमय क्षयोपशम दशा के समय व्यक्त हुआ श्रद्धा-गुण का शुद्ध-भाव, क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व है। चल, मल, अगाढ़ दोषों से सहित होने पर भी यह सम्यक्त्व, आत्म-प्रतीतिरूप संवर-निर्जरामय मोक्ष-मार्ग-सम्पन्न है।

क्षायोपशमिक-चारित्र : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें विशिष्ट-स्थिरता से दर्शन-मोह के अभाव पूर्वक चारित्र-मोहनीय कर्म की क्षयोपशमरूप दशा के समय व्यक्त हुए चारित्र-गुण के शुद्ध-भाव को क्षायोपशमिक-चारित्र कहते हैं। यह भी संवर-निर्जरामय मोक्ष-मार्ग-सम्पन्न दशा है।

संयमासंयम : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, मानकर, उसमें ही स्थिरता से, दर्शन-मोहनीय और अनंतानुबन्धी के अभाव पूर्वक अप्रत्या-ख्यानावरण के भी अनुदय के समय व्यक्त हुए चारित्र-गुण के संयम-असंयम रूप मिश्र-भाव को संयमासंयमरूप क्षायोपशमिक-भाव कहते हैं। इसमें त्रस-हिंसा आदि के त्यागरूप भावों के साथ ही स्थावर-हिंसा आदि का अत्यागरूप भाव भी विद्यमान रहता है। इसमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रत तथा ग्यारह प्रतिमारूप व्रत-अव्रतमय मिश्र-भाव होते हैं। इसे देश-चारित्र, विरताविरत, देश-संयम, देश-व्रती, अणु-व्रती, संयतासंयत, पंचम-गुणस्थान आदि भी कहते हैं। ये जीव मध्यम अन्तरात्मा भी कहलाते हैं।

इसप्रकार क्षायोपशमिक-भाव के अठारह भेद हैं।

प्रश्न ९ : किस कर्म संबंधी कौन सा क्षायोपशमिक भाव है ?

उत्तर : मात्र घाति-कर्मों में ही क्षयोपशम-दशा होती है; अतः

क्षायोपशमिक-भाव इन संबंधी ही हैं। उनमें से चार ज्ञान और तीन अज्ञान, ज्ञानावरण संबंधी; तीन दर्शन, दर्शनावरण संबंधी; क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व, दर्शनमोह और क्षायोपशमिक-चारित्र तथा संयमासंयम, चारित्रमोह—इसप्रकार ये तीन भाव, मोहनीय संबंधी हैं। शेष दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप पाँच लब्धिआँ, अंतराय संबंधी हैं। इसप्रकार अठारह भेदवाला क्षायोपशमिक-भाव, ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्म संबंधी है।

प्रश्न १० : चारित्र-मोहनीय के क्षयोपशम से होने के कारण जब क्षायोपशमिक-चारित्र और संयमासंयम दोनों क्षायोपशमिक-भाव ही हैं; तब उन्हें पृथक्-पृथक् क्यों गिना गया है ?

उत्तर : ये दोनों क्षायोपशमिक-भाव होने पर भी दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से दोनों को पृथक्-पृथक् गिना गया है। वह इसप्रकार—घाति-कर्म-प्रकृतिओं के देशघाति और सर्वघाति—ये दो भेद हैं। देश-घाति प्रकृतिओं में सर्व-घाति और देश-घाति—दोनों ही प्रकार के स्पर्धक होने से इनमें क्षयोपशम होता है। सर्व-घाति प्रकृतिओं में मात्र सर्व-घाति स्पर्धक होने से उनमें क्षयोपशम नहीं होता है। मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषायें—ये चौदह प्रकृतिआँ ही देश-घाति हैं; शेष चौदह प्रकृतिआँ, सर्व-घाति हैं।

छठवें आदि साम्परायिक गुणस्थानों में संज्वलन चतुष्क और नौ नो कषाय-कर्म रूप देश-घाति प्रकृतिओं का क्षयोपशम होने से वहाँ विद्यमान चारित्र, क्षायोपशमिक-चारित्र कहलाता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय कर्म रूप सर्व-घाति प्रकृतिओं का उदय है; वास्तव में तो इनका क्षयोपशम होता ही नहीं है; परन्तु इनका उदय संयमासंयम रूप देश-संयम का घात करने में समर्थ नहीं है; इनके उदय में भी वह व्यक्त रहता है; अतः इन्हें उपचार से क्षयोपशम रूप मानकर तत्संबंधी भावों को क्षायोपशमिक-भाव में गिन लिया है। यह क्षायोपशमिक-चारित्र के समान क्षायोपशमिक-भाव नहीं है; अतः इसे उससे पृथक् कर संयमासंयम नाम दिया है।

इसप्रकार इन दोनों में स्वरूपगत अंतर होने से इन दोनों को

पृथक्-पृथक् गिना गया है।

प्रश्न ११ : क्षयोपशम दशा, मात्र देश-घाति प्रकृतिओं में होती है। वे २६ हैं; तब फिर क्षयोपशम संबंधी क्षायोपशमिक-भाव के २६ भेद क्यों नहीं किए; १८ भेद ही क्यों किए ?

उत्तर : क्षयोपशम दशा मात्र देशघाति प्रकृतिओं में होती है। वे मति-ज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनःपर्यय-ज्ञानावरण—ज्ञानावरण की ये ४; चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण—दर्शनावरण की ये ३; दर्शन-मोहनीय की सम्यक् प्रकृति और चारित्र-मोहनीय की संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद—मोहनीय की ये १४; दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय—अन्तराय की ये ५; कुल २६ हैं; अतः इन संबंधी क्षायोपशमिक-भाव २६ होना चाहिए—ऐसा प्रश्न होना, स्वाभाविक है।

यहाँ उसके २६ भेद न बताकर १८ भेद बताए गए हैं। जिसका कारण इसप्रकार है—ज्ञानावरण की मति-ज्ञानावरणादि ३ प्रकृतिओं का क्षयोपशम, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व—दोनों ही दशाओं में हो जाता है। मनःपर्यय-ज्ञानावरण का क्षयोपशम मात्र सकल-संयम दशा में ही होता है। इन संबंधी भाव जीव के जीवत्व का स्वरूप है; अतः उन्हें बताना आवश्यक होने के कारण ज्ञानावरण संबंधी ४ ज्ञान और ३ अज्ञान—कुल ७ भेद, क्षायोपशमिक-भाव में बताए हैं।

छद्मस्थ दशा में दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। दर्शनोपयोग का संबंध दर्शनावरण के साथ है; अतः उसकी तीन प्रकृतिओं संबंधी तीन भेद यहाँ लिए हैं।

मोक्ष-मार्ग की दृष्टि से मोहनीय-कर्म के मुख्य दो भेद विवक्षित हैं। उनमें से सम्यक् प्रकृति का संबंध श्रद्धा-गुण के साथ होने से उस संबंधी क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व यहाँ लिया है। चारित्र-मोहनीय की पूर्वोक्त १३ प्रकृतिओं के क्षयोपशम में क्षायोपशमिक-चारित्र व्यक्त होने से उसे पृथक् गिना।

अन्तराय की पाँच प्रकृतिओं संबंधी पाँच क्षायोपशमिक लब्धिआँ

तो स्पष्ट ही हैं।

इसप्रकार २६ देशघाति-प्रकृतिओं संबंधी १७ क्षायोपशमिक भाव हो गए।

मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में होने वाली संयमासंयम दशा औपशमिक या क्षायिक भाव रूप नहीं है। ये प्रकृतिआँ सर्व-घाति होने के कारण इनमें क्षयोपशम दशा नहीं होती है; अतः यद्यपि इन संबंधी भाव वास्तविक क्षायोपशमिक भी नहीं है; तथापि मोक्षमार्ग का प्रकरण होने के कारण इसे उपचार से क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है। प्रत्याख्यानावरण का उदय देश-संयम का घात करने में समर्थ नहीं है; अतः इसे कथंचित् देश-घाति मानकर इसके उदय में होने वाले भाव को क्षायोपशमिक कह देते हैं। इसप्रकार यह संयमासंयम दशा मिलकर क्षायोपशमिक-भाव के १८ भेद हो जाते हैं।

इसप्रकार यह भाव, संसार और मोक्ष-मार्ग—दोनों रूप होने से मोक्ष-मार्ग की विशेष स्पष्टता-हेतु इस क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद किए हैं; २६ भेद नहीं किए हैं।

प्रश्न १२ : भेदों सहित औदयिक भाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : उनका स्वरूप इसप्रकार है—

“**उदयः प्रयोजनमस्येति औदयिकः—**जिस भाव का उदय प्रयोजन है, वह औदयिक है।”

“**तेषामुदयादौदयिकः—**उन कर्मों के उदय से होनेवाला भाव, औदयिक है।”

“**उदयेन युक्तः औदयिकः—**उदय से युक्त भाव, औदयिक है।”

तात्पर्य यह है कि आत्मा के जिन विभाव-भावों का निमित्त पाकर कर्म का उदय होता है, उन्हें; अथवा कर्मों की उदयरूप दशा के समय होनेवाले आत्मा के भावों को औदयिक-भाव कहते हैं। ‘उदय’ शब्द के साथ संबंध वाचक ‘ठञ्’प्रत्यय का प्रयोगकर ‘औदयिक’पद बनता है।

सभी कर्मों में उदयरूप अवस्था होने के कारण तथा कर्म और जीव के विभाव—दोनों ही असंख्यात लोक प्रमाण भेद वाले होने से

यद्यपि औदयिक भाव के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं; तथापि संक्षेप में समझने की दृष्टि से इसके इक्कीस भेद किए जाते हैं। वे इसप्रकार हैं—

नरकादि चार गति : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-स्थिरता के अभावरूप विभाव-परिणति से, नरक-गति आदि नाम-कर्म तथा तत्संबंधी अन्य कर्मों के उदय आदि के समय होनेवाले जीव के विकारी-भावों को नरक-गति, तिर्यच-गति, मनुष्य-गति और देव-गति रूप औदयिक-भाव कहते हैं। इनसे जीव की उस-उस गति संबंधी विशिष्ट शुभाशुभ प्रवृत्तिआँ होती हैं। चौरासी लाख योनिआँ, जीव-समास, कुल-कोटि आदि रूप व्यंजन-पर्यायगत जीव के सभी भेद, इन्हीं चार औदयिक भावों में गर्भित हो जाते हैं।

क्रोध आदि चार कषाय : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-स्थिरता के अभावरूप राग-द्वेषमय विकृति से, चारित्र-मोहनीय कषाय कर्म की उदयरूप दशा के समय होनेवाले जीव के परलक्ष्यी भावों को क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायमय औदयिक-भाव कहते हैं। इनका आत्मा में आत्मा को कसने, दुःख देने रूप आकुलतामय कार्य होता है। सम्यक्त्व आदि के घात की अपेक्षा इनके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादिमय सोलह भेद हो जाते हैं। इनके भी उत्तर भेदों की अपेक्षा इनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। कषाय की मन्दता-तीव्रता रूप सभी शुभाशुभ भाव इनमें ही गर्भित हैं।

स्त्रीवेद आदि तीन लिंग : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-स्थिरता के अभावरूप विभाव परिणति से, चारित्र-मोहनीय नो-कषाय कर्म की उदयरूप दशा के समय होनेवाले जीव के मैथुन-भाव रूप पर-लक्ष्यी भावों को स्त्री-वेद, पुरुष-वेद, नपुंसक-वेदमय लिंगरूप औदयिक-भाव कहते हैं। अब्रम्ह, कुशील, शील के दोष आदि रूप सभी प्रवृत्तिआँ इसी में गर्भित हो जाती हैं।

मिथ्यादर्शन : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप से प्रतीति के अभाव में, दर्शन-मोहनीय की उदयरूप दशा के समय होने वाले जीव के आत्म-अश्रद्धान/तत्त्व-अश्रद्धान/अतत्त्व-श्रद्धान/तत्त्व की अप्रतिपत्ति/विपरीत श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह औदयिक-भाव ही अनादि-कालीन सर्व सांसारिक दुःखों का मूल कारण है। यह नष्ट हुए विना अन्य कोई औदयिक-भाव कभी भी नष्ट नहीं हो सकते हैं।

अज्ञान : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में परिपूर्ण-स्थिरता नहीं होने से ज्ञानावरण आदि घाति-कर्मों की उदयरूप दशा के समय होनेवाले पर-पदार्थों की अज्ञानकारीरूप भाव को अज्ञान नामक औदयिक-भाव कहते हैं। इसमें आत्म-ज्ञानमय सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी सम्पूर्ण लोकालोक की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं हो पाती है।

असंयत : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा की अपनत्वरूप से प्रतीति हो जाने पर, विशेष स्थिरता का अभाव होने से, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरणरूप चारित्र-मोहनीय कर्म की उदयावस्था के समय होनेवाले असंयमित/अविरति-भाव को असंयत नामक औदयिक-भाव कहते हैं। इस भाव में सकल-संयम आदि रूप विशिष्ट शुद्धोपयोग नहीं हो पाता है।

असिद्धत्व : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में सब ओर से परिपूर्ण स्थिरता के अभाव में, कर्मों की उदयावस्था के समय होनेवाले परम यथाख्यात चारित्र/कृतकृत्यपने के अभाव को असिद्धत्व कहते हैं। इस भाव में संसारी दशा ही रहती है; निकल परमात्मा रूप सिद्ध दशा नहीं होती है।

कृष्ण आदि षट्लेश्या : ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण-सम्पन्न अपने भगवान आत्मा में निश्चल-निस्तरंग स्थिरता के अभाव में कर्मों की उदयावस्था के समय होनेवाले कषाय से अनुरंजित आत्म-प्रदेशों के कम्पनरूप भाव को लेश्या नामक औदयिक-भाव कहते हैं। जीव के परिणामरूप भाव-लेश्या के छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। कषाय की तीव्रतम, तीव्रतर,

तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम दशा की अपेक्षा ये छह भेद हो जाते हैं। अरहंत भगवान के कषाय नहीं होने पर भी योग-प्रवृत्ति विद्यमान होने के कारण उपचार से शुक्ल लेश्या कही जाती है।

इसप्रकार औदयिक-भाव के इक्कीस भेद हैं।

प्रश्न १३ : जबकि उदय आठों ही कर्मों का और उनकी सभी उत्तर-प्रकृतिओं का होता है; तब फिर उन सभी संबंधी औदयिक-भाव क्यों नहीं बताए जाते हैं ? इनके मात्र २१ भेद ही क्यों हैं ?

उत्तर : यद्यपि उदय सभी कर्म-प्रकृतिओं का होता है; तथापि उन सभी संबंधी औदयिक-भाव नहीं होते हैं। शरीर आदि ६२ प्रकृतिओं के उदय का संबंध मात्र शरीर के साथ होने से, नरक आदि ४ आयुष्क का भव के साथ और नरक-गत्यानुपूर्वी आदि ४ गत्यानुपूर्वी का विग्रहगति रूप क्षेत्र के साथ संबंध होने से इन ६२+४+४=७० कर्म-प्रकृतिओं के उदय का सीधा संबंध जीव के साथ नहीं होने के कारण इन संबंधी औदयिक-भाव नहीं होते हैं। इन संबंधी औदयिक-भाव तो उपचार से कहे जाते हैं; क्योंकि जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सिद्ध दशा व्यक्त नहीं होती है; अपना यथार्थ स्वभाव पर्याय में प्रगट नहीं हो पाता है। शेष ७८ प्रकृतिओं संबंधी औदयिक-भाव होते हैं। यहाँ उन्हें संक्षिप्त कर, अन्य में गर्भित कर, उनके प्रतिनिधि के रूप में मात्र २१ भेद गिनाए गए हैं।

प्रश्न १४ : इन २१ भावों में से किस औदयिक-भाव में किस-किस कर्म संबंधी औदयिक-भाव को गर्भित किया गया है ?

उत्तर : गति रूप चार औदयिक-भावों में नाम-कर्म की शेष २७ प्रकृतिओं/चार गति, पाँच जाति, उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, तीर्थकर तथा गोत्र और वेदनीय कर्म की दो-दो—कुल ३१ प्रकृतिओं संबंधी औदयिक भाव को गर्भित किया है।

कषाय रूप चार भावों में चारित्र-मोहनीय की प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन-चतुष्क संबंधी ८ कषाय भावों को गर्भित किया गया है। लिंगरूप ३ भावों में हास्यादि नौ नो कषायरूप भाव गर्भित हैं।

मिथ्यादर्शन रूप एक भाव में दर्शन-मोहनीय और अनंतानुबंधी चतुष्क संबंधी भाव गर्भित हैं।

अज्ञानरूप एक भाव में ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९ और अंतराय ५—इन १९ कर्म-प्रकृतिओं संबंधी औदयिक-भाव गर्भित हैं। असंयतरूप एक भाव में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क संबंधी भाव गर्भित हैं। भावात्मक छह लेश्याएं मुख्यरूप में कषायों का कार्य होने से वे चार कषाय संबंधी अनंतानुबंधी आदि में गर्भित हो जाती हैं तथा द्रव्य लेश्याएं कथन-सापेक्ष होने से असिद्धत्व संबंधी शरीर आदि में गर्भित हो जाती हैं। शेष रहे असिद्धत्व रूप एक भाव में सामान्यतया आयुष्क, नाम, गोत्र और वेदनीय रूप सभी अघाति कर्म-प्रकृतिओं के उदय संबंधी भाव गर्भित हो जाते हैं।

इसप्रकार ये २१ भाव समस्त कर्म-प्रकृतिओं के उदय संबंधी भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रश्न १५ : भेदों सहित पारिणामिक भाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : “द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः—द्रव्य को अपने स्वरूप-प्राप्ति मात्र में कारणभूत परिणाम है।”

“परिणामे भवः पारिणामिकः—परिणाम में होनेवाला भाव, पारिणामिक है।”

“परिणामेन युक्तः पारिणामिकः—परिणाम से युक्त पारिणामिक है।”

तात्पर्य यह है कि जो भाव परिणाममय/स्वभावरूप है, कर्मादि से पूर्ण निरपेक्ष है, तर्क-अगोचर भगवती भवितव्यता से सुनिश्चित है, वह पारिणामिक-भाव है। ‘परिणाम’ शब्द के साथ संबंध वाचक ‘ठञ्’ प्रत्यय का प्रयोग होने से ‘पारिणामिक’ पद बनता है। यह भाव, कर्म की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि सभी दशाओं से पूर्णतया निरपेक्ष, अहेतुक है; किसी पुरुषार्थ या प्रमाद का परिणाम नहीं है; किसी सुकृत या दुष्कृत का फल नहीं है; अन्य किन्हीं बाह्य संयोग-जन्य भी नहीं है; पूर्णतया अकारण है। वैसे तो यह भाव सभी द्रव्यों में है; पर जीव की अपेक्षा इसके तीन भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

१. जीवत्व : कर्मादि समस्त पर-पदार्थों से पूर्ण निरपेक्ष अपने भाव

प्राणों से सदा जीवित रहने का भाव/जीवित रहना/चेतनामय रहना, जीवत्व-भाव है। इसके दो भेद हैं—शुद्ध जीवत्व, अशुद्ध जीवत्व।

अनादि-अनन्त, निष्क्रिय, जीवत्व आदि अनन्त वैभव-सम्पन्न, ध्यान का परम ध्येय भगवान आत्मा, शुद्ध जीवत्व है तथा प्राण-धारण की पर्यायरूप प्रगट योग्यता, अशुद्ध जीवत्व है।

२. पर्याय में सम्यक् रत्नत्रय प्रगट करने की योग्यता, भव्यत्व है।

३. उसमें सम्यक् रत्नत्रय प्रगट नहीं कर पाने की योग्यता, अभव्यत्व है।

इसप्रकार पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वभावमात्र पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

प्रश्न १६ : इन पाँच भावों में से कौन सा भाव किनके पाया जाता है?

उत्तर : ये भाव निम्नलिखित जीवों के पाए जाते हैं अर्थात् इन पाँच भावों के स्वामी/धारक इसप्रकार हैं—

१. पारिणामिक-भाव वस्तु मात्र का स्वभाव होने से यह सभी वस्तुओं में पाया जाता है; कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें पारिणामिक-भाव नहीं हो; परन्तु यहाँ मात्र जीव के भावों की ही चर्चा है। यह भाव प्रत्येक जीव में है। संसारी-सिद्ध, त्रस-स्थावर, सैनी-असैनी, बादर-सूक्ष्म आदि सभी जीव पारिणामिक भावमय हैं। ध्यान का परम-ध्येयभूत शुद्धात्मा प्रत्येक जीव में प्रत्येक पर्याय में सदा विद्यमान है।

२. औदयिक-भाव सभी संसारी जीवों के विद्यमान है; एक-मात्र सिद्ध भगवान ही इससे रहित हैं। मिथ्यादृष्टि, संसारी सम्यग्दृष्टि; बहिरात्मा, अंतरात्मा, सकल परमात्मा; अरहत, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी सभी सदा औदयिक-भाव से सहित हैं।

३. क्षायोपशमिक-भाव सभी छद्मस्थ जीवों के पाया जाता है। यह भाव मात्र अरहत और सिद्ध परमेष्ठियों के नहीं है; शेष सभी मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, श्रावक, साधु, उपाध्याय, आचार्य परमेष्ठी आदि सभी के होता है।

४. क्षायिक-भाव सभी सिद्ध परमेष्ठियों के तो पाया ही जाता है; साथ ही कुछ संसारी जीवों में भी पाया जाता है। यद्यपि यह अभव्यों और मिथ्यादृष्टियों के तो नहीं होता है; तथापि सम्यक्त्वी और चारित्रवानों में से क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्रवान जीवों

के तथा सभी अरहन्तों के नियम से पाया जाता है।

५. औपशमिक-भाव मात्र औपशमिक-सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्रवानों के ही पाया जाता है।

इसप्रकार अपनी-अपनी योग्यतानुसार ये सभी जीवों के पाए जाते हैं।

प्रश्न १७ : इन पाँचों भावों का काल लिखिए?

उत्तर : वास्तव में तो एक-मात्र पारिणामिक-भाव ही पर्यायों से पूर्णतया निरपेक्ष होने के कारण अनादि-अनन्त है; शेष सभी पर्याय रूप होने से सादि-सान्त ही हैं; तथापि इनमें कुछ विशेष भी है। वह इसप्रकार—

पारिणामिक-भाव में जीवत्व तथा अभव्यत्व भाव तो अनादि-अनन्त हैं। अतिदूरानुदूर भव्य या अभव्य-सम भव्य का भव्यत्व भाव भी अनादि-अनन्त है। शेष भव्यों का भव्यत्व भाव, अनादि-सान्त है।

औदयिक-भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा तो सादि-सान्त ही है; परन्तु परम्परा की अपेक्षा अभव्य और अभव्य-सम-भव्य का तो अनादि-अनन्त ही है; शेष भव्य जीवों का अनादि-सान्त है।

क्षायोपशमिक-भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा तथा मोक्ष-मार्गरूप क्षायोपशमिक-भाव की अपेक्षा सादि-सान्त ही है। परम्परा से अभव्य तथा अभव्य-सम-भव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त और शेष भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है।

क्षायिक भाव एक समयवर्ती पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त है तथा परम्परा की अपेक्षा सादि-अनन्त है। इस भाववाला जीव संसार में अधिक से अधिक कुछ कम दो कोटि पूर्व अधिक ३३ सागर पर्यन्त रह सकता है।

औपशमिक भाव सदैव सादि-सान्त ही है।

इसप्रकार अपनी-अपनी योग्यतानुसार पाँच भावों का काल अनादि, अनन्त, सादि, सान्त आदि रूप में पाया जाता है।

प्रश्न १८ : इन पाँच भावों का ज्ञेय, हेय, उपादेय रूप में विभाजन कीजिए?

उत्तर : औदयिक आदि पाँचों भाव जीव के असाधारण भाव होने पर भी सुखमय जीवन जीने के लिए इन सभी का एक समान महत्त्व नहीं

है। जाने विना तो उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय ही नहीं हो सकता है; अतः जानने-योग्य तो सभी हैं। जानने के बाद ही हेय-उपादेय का निर्णय होता है। कहा भी है—“बिन जाने तैं दोष-गुनन को कैसे तजिए गहिए।”

शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक-भाव पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनादि-अनन्त, स्वाधीन होने से आश्रय करने-योग्य है। इस त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वभाव के आश्रय से ही धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता होती है; अधर्म का नाश होता है; अतः यह आश्रय करने की अपेक्षा सदैव सभी को पूर्णतया उपादेय है।

औदयिक-भाव विकाररूप होने के कारण पूर्णतया हेय है। भूमिकानुसार विद्यमान रहने पर भी साधक जीव मान्यता में तो इन्हें पूर्णतया हेय ही मानता है तथा सहज शुद्ध अपने पारिणामिक-भाव में लीनता के बल पर नष्ट करने का सतत अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करता रहता है।

औपशमिक, क्षायिक तथा साधक दशावाला क्षायोपशमिक भाव कथंचित् सुखमय, मोक्ष-मार्ग या मोक्षरूप होने से प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय होने पर भी; पर्यायरूप होने से आश्रय करने-योग्य नहीं हैं; अतः हेय हैं।

इसप्रकार सुखी होने की अपेक्षा पारिणामिक-भाव परम उपादेय है। साधक दशा का क्षायोपशमिक-भाव, औपशमिक-भाव और क्षायिक-भाव कथंचित् हेय तथा कथंचित् उपादेय है। औदयिक-भाव पूर्णतया हेय है तथा शेष रहा क्षायोपशमिक-भाव मात्र ज्ञेय है; साधक दशा प्रगट करने के लिए इसका उपयोग साधन के रूप में हो जाता है।

प्रश्न १९ : कहीं-कहीं ‘परम-पारिणामिक-भाव’ शब्द भी आता है; यह क्या है?

उत्तर : शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिक भाव को ही ‘परम-पारिणामिक भाव’ कहते हैं। कर्मरूप निमित्त की अपेक्षा जीव की पर्यायों को देखने पर ही उनके औदयिक आदि नाम होते हैं; वास्तव में तो प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय पर से पूर्णतया निरपेक्ष, अपनी स्वतंत्र योग्यता से प्रगट होने के कारण परिणाम ही कहलाती है; अतः

उसका भाव पारिणामिक है। इसके अतिरिक्त पारिणामिक भाव के भव्यत्व, अभव्यत्व, अशुद्ध जीवत्व आदि भेद भी हैं।

जब इन सभी को पारिणामिक कहते हैं; तब इनसे पृथक् करने के लिए शुद्ध जीवत्व रूप पारिणामिक-भाव को 'परम-पारिणामिक' कह देते हैं। परम शुद्ध-निश्चय-नय का विषय होने से, परम-पद पंचम-गति मोक्ष की प्राप्ति का आश्रयभूत कारण होने से, ध्यान का परम-ध्येय, ज्ञान का परम-ज्ञेय और श्रद्धा का परम-श्रद्धेय होने से परम उपादेय होने के कारण इस पारिणामिक-भाव के साथ 'परम' विशेषण लगाया जाता है।

इसप्रकार अन्य से पृथक् करने के लिए इस पारिणामिक-भाव को 'परम-पारिणामिक-भाव' कहते हैं।

प्रश्न २० : औपशमिकादि भावों के क्रम की सहेतुक सिद्धि कीजिए?
उत्तर : जिनागम में इन भावों को औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक— इस क्रम से रखा गया है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

१. औपशमिक भाव को सर्व-प्रथम रखने का कारण : निम्न-लिखित कारणों से औपशमिक भाव को सर्व-प्रथम रखा गया है—

अ. औपशमिक भाव से ही धर्म का प्रारंभ होता है। जब कोई जीव पाँच लब्धि पूर्वक स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने भगवान आत्मा का आश्रय लेता है, तब उसे सर्व-प्रथम औपशमिक-भाव रूप शुद्धता, अतीन्द्रिय आनन्दमय दशा ही प्रगट होती है।

ब. इसके भेद तथा इसका समय कम होने से, इसमें पाए जाने वाले जीवों की संख्या सबसे कम है।

स. उत्पन्न होकर नियम से नष्ट होने के कारण यह एक समयवर्ती पर्याय और परम्परा—दोनों की अपेक्षा से ही सादि-सान्त है।

इत्यादि अनेक कारणों से इसे सर्व-प्रथम स्थान मिला।

२. औपशमिक के बाद क्षायिकभाव को रखने का कारण : दोनों भाव वीतरागतामय होने पर भी दोनों के स्वभाव परस्पर विरुद्ध होने के कारण क्षायिक-भाव को औपशमिक-भाव के बाद रखा है। वह इसप्रकार—

औपशमिक-भाव	क्षायिक-भाव
१. इसमें कर्म मात्र उपशमित/दबे हैं।	इसमें वे पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।
२. इसके भेद कम हैं।	इसके भेद अधिक हैं।
३. इसमें जीवों की संख्या कम है।	इसमें उनकी संख्या अधिक है।
४. यह उत्पन्न होकर नियम से नष्ट होता है।	यह उत्पन्न होने के बाद नियम से नष्ट नहीं होता है।
५. यह मात्र संसार दशा में ही होता है।	यह संसारी और सिद्ध दोनों दशा-ओं में रहता है।
६. यह मात्र छद्मस्थ दशा में ही होता है।	यह छद्मस्थ और सर्वज्ञ—दोनों दशाओं में रहता है।
७. यह मात्र अन्तरात्माओं में होता है।	यह अन्तरात्मा-परमात्मा—दोनों में ही होता है।
८. यह मात्र साधक जीवों के होता है।	यह साधक-साध्य-दोनों के है।
९. औपशमिक संबंधी उपशम मात्र मोहनीय कर्म का होता है।	क्षायिक संबंधी क्षय आठों ही कर्मों का होता है।

इत्यादि अनेक कारणों से दोनों परस्पर विरुद्ध-स्वभावी होने के कारण औपशमिक भाव के बाद क्षायिक भाव को रखा गया है।

३. इसके बाद तथा मध्य में क्षायोपशमिक-भाव को रखने का कारण : इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

क. कर्म के उपशम और क्षयमय मिश्ररूप क्षयोपशमदशा होने से तत्संबंधी भावों के बाद, क्षयोपशम संबंधी क्षायोपशमिक-भाव रखा गया है।

ख. पूर्वगत दोनों भावों की अपेक्षा इसके भेद तथा इसमें रहनेवाले जीवों की संख्या अधिक होने से इसे उनके बाद रखा गया है।

ग. यह भाव (ज्ञान, दर्शन और दानादि पाँच लब्धिओं रूप क्षायोपशमिक भाव) औपशमिक आदि मोक्ष-मार्ग और औदयिक रूप संसार-मार्ग—इन दोनों में पाया जाता है।

घ. संसार-मार्ग नष्ट करने और मोक्ष-मार्ग प्रगट करने के लिए यह प्रगट भाव ही साधन है।

च. स्वयं इस भाव में भी दोनों ही मार्ग गर्भित हैं।

इत्यादि अनेकानेक कारणों से इसे उन दोनों के मध्य में तीसरे स्थान पर रखा गया है।

४. इसके बाद औदयिक-भाव को रखने का कारण : इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

त. क्षायोपशमिक-भाव से औदयिक-भाव के भेदों की तथा उसमें पाए जानेवाले जीवों की संख्या अधिक है।

थ. औपशमिकादि मोक्षमार्ग से औदयिक रूप संसारमार्ग विपरीत है।

इत्यादि अनेक कारणों से इसे क्षायोपशमिक-भाव के बाद चौथे क्रमांक पर रखा गया है।

५. पारिणामिक-भाव को सबसे अन्त में रखने का कारण : इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

प. यह पर से पूर्ण निरपेक्ष, अनादि-अनन्त सभी जीवों का सहज स्वभाव होने से इसकी संख्या तथा समय, सबसे अधिक है।

फ. अपने-अपने स्वभाव की अपेक्षा यह भाव, सभी द्रव्यों में है।

ब. इस पारिणामिक/परम पारिणामिक-भाव की आराधना ही सुखमय और विराधना ही दुःखमय जीवन की कारण है।

भ. पूर्वोक्त चार भावों का आधार यही है।

इत्यादि कारणों से पारिणामिक भाव को सबसे अंत में रखा है।

इसप्रकार विशिष्ट हेतुओं से इन भावों को इस क्रम से रखा गया है।

प्रश्न २१ : औपशमिक आदि भावों की तीन-तीन परिभाषाएं क्यों प्राप्त होती हैं ?

उत्तर : जैसे माता-पिता—दोनों के संयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र, अपने नाना के यहाँ माता का तथा दादा के घर पिता का कहलाता है; उसीप्रकार जीव के भाव और कर्म की उदय आदि दशाओं के मध्य पारस्परिक घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से यद्यपि दोनों में अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से एक साथ कार्य होता है; तथापि उपादान की मुख्यता से आत्मा-परक और निमित्त की मुख्यता से कर्म-परक परिभाषा बन जाती है।

जैसे—“उपशमेन युक्तः औपशमिकः—उपशम से युक्त भाव, औपशमिक है।”—यह परिभाषा निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा

है। “उपशमः प्रयोजनमस्येति औपशमिकः—उपशम है प्रयोजन जिसका, वह औपशमिक है।”—यह परिभाषा आत्मारूप उपादान की मुख्यता से है और “तेषामुपशमादौपशमिकः—उन कर्मों के उपशम से होनेवाला औपशमिक है।”—यह कर्म रूप निमित्त की मुख्यता से की गई परिभाषा है।

इसप्रकार विवक्षा-भेद से प्रत्येक भाव की तीन-तीन परिभाषाएं दी गई हैं।

प्रश्न २२ : इन तीन परिभाषाओं का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : प्रति-समय प्रत्येक द्रव्य में पर से पूर्ण निरपेक्ष रह, अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता पूर्वक कार्य हो रहा है। इसमें एक के द्वारा दूसरे में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के लिए कहीं कोई अवसर नहीं है; फिर भी जो जिसके लिए अनुकूल प्रतीत होता है, उसका उसके साथ बननेवाले सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करा दिया जाता है। परस्पर पूर्णतया अकर्तृत्व होते हुए भी प्रति-समय होनेवाले द्रव्यों के परिणामन का ज्ञान कराने के लिए इनकी परिभाषा, दोनों की मुख्यता से की गई है।

नष्ट करने-योग्य भावों को नष्ट करने की तथा प्रगट करने-योग्य भावों को प्रगट करने की जिम्मेदारी, जवाबदारी का ज्ञान कराकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ की प्रेरणा देने के लिए इनकी परिभाषा, आत्मा की मुख्यता से की गई है।

इनका वास्तविक निमित्त बताकर, अन्य पर की ओर से पूर्णतया दृष्टि हटाने के लिए; तथा ये पर-निमित्तक-भाव हैं, स्वाभाविक-भाव नहीं होने से अपनत्व करने-योग्य नहीं हैं, इनमें अपनत्व का भाव मिथ्यात्व है—यह ज्ञान कराने के लिए इनकी परिभाषा, कर्म की मुख्यता से की गई है।

इसप्रकार विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध करने के लिए औपशमिक आदि भावों की तीन प्रकार से परिभाषाएं दी गई हैं।

प्रश्न २३ : एक साथ किन जीवों के कितने और कौन-कौन से भाव पाए जाते हैं ?

उत्तर : बहिरात्मा, विराधक, मिथ्यादृष्टि जीवों के एक साथ पारिणामिक,

औदयिक और क्षायोपशमिक—ये तीन भाव पाए जाते हैं। अन्तरात्मा, साधक, सम्यग्दृष्टि, छद्मस्थ जीवों के एक साथ पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक तथा औपशमिक या क्षायिक—ये चार भाव पाए जाते हैं। उपशम श्रेणी का आरोहण करनेवाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के एक साथ पाँचों ही भाव पाए जाते हैं। सकल परमात्मा वीतरागी, सर्वज्ञ अरहंत परमेष्ठी के एक साथ पारिणामिक, औदयिक और क्षायिक—ये तीन भाव पाए जाते हैं। निकल परमात्मा, सर्वतः शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी के एक साथ जीवत्वरूप पारिणामिक और क्षायिक—ये दो भाव पाए जाते हैं।

इसप्रकार विविध जीवों की अपेक्षा कम से कम दो से लेकर अधिक से अधिक पाँचों भाव एक साथ विद्यमान रह सकते हैं।

प्रश्न २४ : इस प्रकरण को समझने से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर : जीव के असाधारण-भावमय पंच भाव वाले इस प्रकरण को समझने से हमें निम्नलिखित लाभ हैं—

१. पारिणामिक-भाव को समझने से हमें यह ज्ञात होता है कि भले ही हमारी पर्याय ने इसे अपनत्व रूप से स्वीकार नहीं करने के कारण अनन्त दुःख भोगे हैं; तथापि यह उनसे पूर्ण अप्रभावित ही रहा है। इसका अनादि-अनन्त ज्ञानानन्द-स्वभाव कभी नष्ट नहीं हुआ है। यदि अभी भी इसे अपनत्व रूप से स्वीकार किया जाता है तो जीवन ज्ञानानन्दमय निराकुल हो जाता है।

२. औदयिक-भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि ये रागादि भाव मेरे असाधारण-भाव हैं; परन्तु ये कर्म-सापेक्ष, वैभाविक-भाव हैं। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। वास्तव में मैं इनका कर्ता, धर्ता, हर्ता, भोक्ता नहीं हूँ। इन्हें अपना मानने के कारण ही मैं दुःखी हूँ। इनसे सतत भेद-विज्ञान करते हुए अपने परम-पारिणामिक-भाव में स्थिर होने से ये औदयिक-भाव नष्ट होकर मैं पर्याय में भी सुखी हो जाता हूँ।

३. क्षायोपशमिक-भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि विकृत से विकृत दशा में भी स्वभाव की व्यक्तता का कभी भी पूर्णतया अभाव नहीं होता है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों का स्वाभाविक शुद्ध अंश पर्याय में सदा व्यक्त रहता है। इससे ही जीवत्व की पहिचान

होती है तथा यही एक मात्र वह साधन है, जिसका सदुपयोग कर हम पर्याय में भी पूर्ण शुद्धता व्यक्त कर सकते हैं।

४. क्षायिक-भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि यदि अपने परम पारिणामिक-भाव में परिपूर्ण स्थिरता हुई तो सदा-सदा के लिए दुःखों का अभाव होकर परिपूर्ण सुखमय दशा व्यक्त हो जाती है; अशुद्धता का सदा-सदा के लिए पूर्णतया अभाव हो जाता है; तथापि यह भी सुखमय होने से प्रगट करने की अपेक्षा पूर्ण उपादेय होने पर भी कर्म-सापेक्ष होने के कारण आश्रय लेने के लिए हेय ही है। इसमें अपनत्व करना, दुःखमय ही है, सुखमय नहीं। यह भी वैभाविक-भाव ही है। यह अनादि-कालीन भी तो नहीं है; स्वयं इसके आश्रय से यह उत्पन्न भी नहीं होता है। सदैव इसमें परत्व-बुद्धि रखते हुए अपने परम-पारिणामिक-भाव में तन्मय होने से यह व्यक्त हो जाता है।

५. औपशमिक-भाव समझने से यह ज्ञात होता है कि जब भी पर्याय रूप इन सभी भावों से भेद-विज्ञान कर, अपने परम-पारिणामिक-भाव को अपनत्वरूप से स्वीकार कर उसमें क्षणिक स्थिरता होती है; तब सर्व-प्रथम श्रद्धा संबंधी औपशमिक-भावरूप औपशमिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है। यही धर्म की/सुखी होने की/मोक्ष-मार्ग की प्रारंभिक दशा है; अतः धर्म प्रगट करने के लिए सर्व-प्रथम तत्त्व-निर्णय पूर्वक स्व-पर संबंधी भेद-विज्ञान के अभ्यास से श्रद्धा की विपरीतता को नष्ट करने की दिशा में सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए; तथा यह भी कर्म-सापेक्ष, क्षणिक भाव है; त्रैकालिक अपना स्वभाव नहीं है; अतः इससे भी सतत भेद-विज्ञान करते हुए अपने परम-पारिणामिक-भाव में अपनत्व पूर्वक स्थिर रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सारांश यह है कि यदि हमें धर्म करना है, सुखी होना है, तो पर-सापेक्ष, पर्याय रूप इन औदयिक आदि सभी भावों से अपनत्व हटाकर मात्र परम-पारिणामिक-भावरूप अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान् आत्मा का आश्रय लेना चाहिए। इससे ही धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता होती है। सर्वस्व समर्पण पूर्वक अपने पुरुषार्थ को इस दिशा में सक्रिय कर अतीन्द्रिय-आनन्दमय सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न जीवन हो जाना ही इस सम्पूर्ण प्रकरण को समझने का लाभ है। ॐ

पाठ ७ : चार अभाव

प्रश्न १ : आचार्य समन्तभद्र स्वामी का संक्षिप्त परिचय दीजिए?

उत्तर : अन्य जैनाचार्यों के समान लोकैषणा से अत्यन्त दूर रहनेवाले स्वामी समन्तभद्राचार्य का जीवन-परिचय भी वास्तव में अज्ञात-जैसा ही है। इस कलि-काल में जैन और जैनेतरों के मध्य सर्वज्ञ भगवान की सर्वज्ञता का विशद विवेचन करने के कारण कलि-काल-सर्वज्ञ नाम से सुविख्यात तथा जैन-दर्शन के सभी पक्षों को अपनी लेखनी से समृद्ध करने वाले परम-पूज्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। शिलालेख या परवर्ती साहित्य में उन संबंधी जितना जो कुछ भी मिलता है, वह वास्तव में नगण्य-प्राय ही है।

आप कदम्ब वंश के क्षत्रिय राजकुमार थे। आपके बचपन का नाम शांतिवर्मा था। आपका जन्म कावेरी नदी के किनारे स्थित दक्षिण भारत के उरगपुर नामक नगर में विक्रम संवत् द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। आपने अल्प-वय में ही जैन दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण कर ली थी। दिगम्बर जैन साधु होकर आपने घोर तपश्चरण किया तथा अगाध ज्ञान भी प्राप्त किया। आप जैन-सिद्धांत के तल-स्पर्शी विद्वान होने के साथ ही तर्क, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य इत्यादि विषयों के भी अद्वितीय विद्वान हैं। आपने अपनी असामान्य वाद-शक्ति के कारण अनेक स्थानों पर विहारकर अज्ञानी-जनों का मद नष्ट किया है। एक स्थान पर आत्म-विश्वास के साथ आप स्वयं लिखते हैं—“**वादार्थी विचराम्यहं नरपतेर्शार्दूलविक्रीडितम्—**हे राजन् ! वाद के लिए मैं शार्दूल/शेर के समान विहार करता हूँ।”

इसीप्रकार अन्यत्र भी लिखते हैं—“**राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन-नैर्ग्रन्थवादी—**हे राजन् ! मुझ जैन निर्ग्रन्थता संबंधी वादी के सामने जिसकी शक्ति है, वह बोले।”

इसप्रकार आपने अनेक स्थानों पर वाद-विवाद के माध्यम से सर्वज्ञता की पुनर्प्रतिष्ठा कर कलि-काल-सर्वज्ञ की उपाधि को सार्थक

किया है। आप जैन-न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। आप संस्कृत साहित्य के सर्व-प्रथम स्तुतिकार हैं। आपने स्तुति-साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने के साथ ही उसे अत्यंत गंभीर न्यायों से भरा है।

आपके द्वारा लिखित साहित्य में से आप्त-मीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू-स्तोत्र, जिन-स्तुति-शतक, रत्न-करण्ड-श्रावकाचार, प्राकृत-व्याकरण, प्रमाण-पदार्थ, कर्म-प्राभूत टीका उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनुपलब्ध ग्रन्थों में गंधहस्ति-महाभाष्य प्रचलित है।

आपके पश्चात् हुए आचार्यों ने आपका स्मरण अत्यंत सम्मान-सूचक शब्दों में किया है। यशोधरचरित्र में वादिराजसूरि, आपको ‘काव्यमणिकों का आरोहण’ तथा गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंहसूरि, आपको ‘सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि’ कहते हैं—इत्यादि रूप में अनेकों आचार्यों ने आपको अनेकों विशिष्ट उपाधिओं से सम्बोधित किया है; जिनका उल्लेख कृतिओं तथा शिलालेखों में उपलब्ध है।

आपने काशी नरेश के समक्ष अपना परिचय देते हुए अपनी दश विशेषताओं का उल्लेख किया है। वे इसप्रकार—“**हे राजन् ! मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादिराट् (शास्त्रार्थियों में श्रेष्ठ हूँ), पण्डित (दूसरों की रचनाओं को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने में कुशल) हूँ, दैवज्ञ (ज्योतिषी) हूँ, वैद्य हूँ, मंत्र-विशेषज्ञ हूँ, तंत्र-विशेषज्ञ हूँ, इस सम्पूर्ण समुद्र-वलया भूमि पर आज्ञा-सिद्ध हूँ, अधिक क्या कहूँ, मैं सिद्ध-सारस्वत हूँ।”**

आप अपने समय के एक महान धर्म-प्रचारक रहे हैं। आपने जैन-सिद्धांतों और जैनाचरणों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का प्रयास किया है। आपका अन्य सम्प्रदायवालों ने भी कभी विरोध नहीं किया।

आपके अवरोध-प्रवर्तन का प्रधान-कारण आपके अंतःकरण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता और वाक्पटुता है। पक्षपात से रहित, स्याद्वाद से संयुक्त होना, आपकी वाणी की मुख्य विशेषता है। आपको पक्षाग्रह, दुराग्रह रंच-मात्र स्वीकार नहीं है। आप स्वयं तो परीक्षा-प्रधानी हैं ही; अन्य को भी निष्पक्ष-दृष्टि से स्व-पर सिद्धांतों के ऊपर गंभीरता से विचारकर परीक्षा-प्रधानी बनने की प्रेरणा देते हैं।

इसप्रकार आपके पवित्र, बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न जीवन का तथा साहित्य-सृजन का, जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार में महान योग-दान रहा है/रहेगा।

प्रश्न २ : अभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक का दूसरे में नहीं होने को अभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायात्मक; उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक; स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक; अनन्त धर्मात्मक, गुणात्मक, स्वभावात्मक, अनेकान्तात्मक है। जिस योग्यता के कारण वह अन्य रूप नहीं होता है, द्रव्य आदि अन्य रूप नहीं होते हैं, उसे अभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ, भावाभावात्मक स्वभाव-संपन्न है। जिसप्रकार स्व की अपेक्षा भाव/सद्भाव/होना/रहना, पदार्थ का स्वरूप है; उसीप्रकार पर की अपेक्षा अभाव/असद्भाव/नहीं होना/नहीं रहना भी पदार्थ का स्वरूप है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी अपने युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ में इसे इसप्रकार व्यक्त करते हैं—“भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मा, भावान्तरं भाववदहर्तस्ते।—हे अर्हन्त भगवान ! आपके अनुसार भावान्तर स्वभाववाला अभाव भी वस्तु का धर्म है।”

प्रश्न ३ : अभाव धर्म को सर्वथा स्वीकार नहीं करने पर क्या समस्याएं उपस्थित होंगी ?

उत्तर : अभाव धर्म को सर्वथा स्वीकार नहीं करने पर अर्थात् जैसे—वस्तु में एक भाव नामक धर्म विद्यमान होने से वस्तु, सदा अपने स्वभावरूप बनी रहती है; उसीप्रकार एक अभाव नामक धर्म विद्यमान होने से वस्तु, सदैव अन्य स्वभावरूप नहीं होती है—ऐसा स्वीकार नहीं करने पर वस्तु-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था, सभी कुछ खण्डित हो जाएगी। सभी पर्यायों एक-दूसरे रूप हो जाने से वे, अनादि-अनन्त हो जाएंगी। सभी द्रव्य, सभी रूप हो जाएंगे। उनका अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं रह सकेगा। जाति-अपेक्षा, छह और संख्या-अपेक्षा, अनन्तानन्त द्रव्य नहीं बन सकेंगे। उनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक स्वरूप नहीं बन सकेगा—इत्यादि अनेक समस्याएं उपस्थित होंगी।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने इसे आप्त-मीमांसा में इसप्रकार

व्यक्त किया है—

“भावैकान्ते पदार्थाना-मभावाना-मपह्वात्।

सर्वात्मक-मनाद्यन्त-मस्वरूप-मतावकम्॥

एकान्त से पदार्थ को मात्र भावरूप मानने पर अभावधर्म का निषेध हो जाने से सभी सबरूप हो जाएंगे, प्रत्येक कार्य अनादि हो जाएगा, प्रत्येक कार्य अनन्त हो जाएगा, किसी का कुछ भी सुनिश्चित स्वरूप नहीं रहेगा। हे जिनेन्द्र देव ! आपको यह मान्य नहीं है।”

इसप्रकार अभाव धर्म का पूर्णतया निषेध करने पर लौकिक-अलौकिक कुछ भी व्यवस्था संभव नहीं हो सकेगी। वस्तु का स्वरूप भावाभावात्मक होने से वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान ने वस्तु के कथंचित् भाव धर्म और कथंचित् अभाव धर्म का निरूपण किया है; सर्वथा नहीं।

प्रश्न ४ : अभाव के मुख्य भेद बता प्रागभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : मुख्यतया अभाव के चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव—“कार्यस्यात्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः—आत्म-लाभ (उत्पन्न) होने से पूर्व कार्य का नहीं होना, प्रागभाव है।” अथवा “यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः सः प्रागभावः—जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह प्रागभाव है।”

तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय का पूर्व की सभी पर्यायों में नहीं होना, प्रागभाव है। ‘प्रागभाव’ प्राक् और अभाव—इन दो से मिलकर बना है। प्राक्=पहले में, अभाव=नहीं होना; अर्थात् अभी की पर्याय का पहले की पर्याय में नहीं होना, प्रागभाव है। जैसे—दही की पूर्व पर्याय, दूध है। दही का दूध में नहीं होना, प्रागभाव है; अन्तरात्मा पर्याय का बहिरात्मारूप पूर्व पर्याय में नहीं होना, प्रागभाव है; सर्वज्ञ पर्याय का छद्मस्वरूप पूर्व पर्याय में नहीं होना, प्रागभाव है; सिद्ध पर्याय का अरहन्तरूप पूर्व पर्याय में नहीं होना, प्रागभाव है इत्यादि।

प्रश्न ५ : प्रागभाव नहीं मानने से होनेवाली हानियाँ स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : यदि हम प्रागभाव को स्वीकार नहीं करेंगे तो वर्तमान-कालीन प्रत्येक पर्याय को अनादि-कालीन स्थाई मानना पड़ेगा;

परिवर्तन के लिए कहीं, कोई किसी भी प्रकार की सम्भावना नहीं होने से पुरुषार्थ कुण्ठित हो जाएगा; किसी भी जीव की चार-गति, चौरासी लाख योनिआँ, मोह, राग, द्वेष आदि असंख्यात लोक-प्रमाण भेदवाले विकारी भाव, जीव-समाप्त, पंच-परावर्तन आदि कुछ भी विविधताएं सिद्ध नहीं हो सकेंगी। प्रथमानुयोग में वर्णित पूर्व-भवों की चर्चा; चरणानुयोग की उपदेश-शैली, देशना-लब्धि आदि; करणानुयोग में वर्णित युग-परिवर्तन आदि की चर्चाएं; द्रव्यानुयोग में वर्णित वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय स्वरूप, ज्ञान की हीनाधिकता, जाति-स्मरण आदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन, प्रागभाव की अस्वीकृति में सम्भव नहीं हो सकेगा।

इसके अभाव में पुरातत्त्व-विभाग, ऐतिहासिक-साक्ष्य, शिला-लेख, खण्डहर आदि; भूत-कालीन सभ्यता, संस्कृति आदि कुछ भी स्वीकार कर पाना, सम्भव नहीं हो सकेगा।

निष्कर्ष यह है कि प्रागभाव को नहीं मानने पर लौकिक-अलौकिक किसी भी प्रकार का भूत-कालीन परिवर्तन स्वीकार करना सम्भव नहीं होगा। सभी की वर्तमान दशा को ही अनादि-कालीन मानना पड़ेगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है।

प्रश्न ६ : प्रागभाव मानने से होनेवाले लाभ स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : प्रागभाव मानने से होनेवाले कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—
१. वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव होने के कारण अनादि से मिथ्यात्व आदि महा-पाप करनेवाला होने पर भी यदि मैं अभी अपने भगवान् आत्मा को समझकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करूँ; तो सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न धर्ममय दशा प्रगट कर सकता हूँ—यह समझ में आ जाने पर 'मैं पापी हूँ, मैं कैसे तिर सकता हूँ?' इत्यादि हीन भावना निकलकर, सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

२. इसी समझ के बल पर अन्य को भी दीन-हीन-तुच्छ देखने का भाव समाप्त हो जाता है।

३. इसी समझ के बल पर पूर्व में किए गए अच्छे कामों को लेकर घमण्ड करने का परिणाम भी नष्ट हो जाता है।

४. इसी समझ के बल पर अन्य के भी पूर्व-कृत अच्छे कार्यों को

देखकर वर्तमान की दुष्प्रवृत्तियों को पुष्ट कर गृहीत-मिथ्यात्व के सेवन का भाव समाप्त हो जाता है।

५. प्रागभाव के कारण जब मेरी ही पूर्व पर्यायें वर्तमान पर्याय का कुछ नहीं कर सकती हैं; तब अन्य द्रव्य या पर्यायें, उसका कुछ भी अच्छा-बुरा कैसे कर सकेंगी?—यह समझ में आ जाने पर पर-लक्ष्यी पराधीन प्रवृत्ति नष्ट होकर जीवन स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय हो जाता है।

६. सभी पर्यायें, एक-एक-समयवर्ती हैं तथा उनका, सभी पूर्व पर्यायों में अभाव है—यह समझ में आ जाने पर स्वयं को और अन्य को पर्यायरूप से देखने का भाव ही समाप्त हो जाता है; जिससे पर्याय-मूढ़ता-जन्य राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज समतामय वीतरागता-सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ प्रागभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न ७ : प्रध्वंसाभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : इसका स्वरूप इसप्रकार है—“कार्यस्यात्मलाभादनन्तरा-भवनं प्रध्वंसाभावः—आत्म-लाभ (उत्पत्ति) होने के बाद कार्य का नहीं होना/रहना, प्रध्वंसाभाव है।” “यद्भावे कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसाभावः—जिसके होने पर नियम से कार्य का नाश होता है, वह प्रध्वंसाभाव है।”

तात्पर्य यह है कि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में नहीं होना, प्रध्वंसाभाव है। 'प्रध्वंसाभाव' प्र, ध्वंस और अभाव—इन तीन से मिलकर बना है। प्र=प्रकृष्टरूप से, ध्वंस=नाश में, अभाव=नहीं होना; अर्थात् प्रकृष्ट रूप से नष्ट होनेवाली इस वर्तमान पर्याय का आगामी सभी पर्यायों में नहीं होना/रहना, प्रध्वंसाभाव है। जैसे—वर्तमान दही का आगामी छाँछ पर्याय में अभाव, प्रध्वंसाभाव है। अरहन्त पर्याय का सिद्ध पर्याय में अभाव, छद्मस्थ पर्याय का सर्वज्ञ पर्याय में अभाव, अन्तरात्मा दशा का परमात्मा दशा में अभाव, प्रध्वंसाभाव है इत्यादि।

प्रश्न ८ : प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर क्या समस्या आएगी ?

उत्तर : प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर प्रत्येक कार्य, अनन्त-कालीन स्थाई हो जाएगा; गरीब, सदा गरीब रहेगा; धनी, सदा धनी रहेगा;

मूर्ख, सदा मूर्ख; विद्वान, सदा विद्वान रहेगा; अरे ! यह सब तो दूर ही रहे; निगोदिया, सदा निगोदिया ही रहेगा; हम भी अनन्त-काल पर्यन्त निगोद में ही पड़े रहते। यदि इस अभाव को नहीं मानेंगे, तो किसी भी जीव की चार गति, चौरासी लाख योनिआँ सिद्ध नहीं होंगी; गुणस्थान, जीव-समास, पंच-परावर्तन आदि भी सिद्ध नहीं होंगे; अशुभ, शुभ, शुद्ध भाव सिद्ध नहीं होंगे। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मापना सिद्ध नहीं होगा। प्रथमानुयोग में वर्णित आगामी-भवों की चर्चाएं; करणानुयोग में वर्णित युग-परिवर्तन आदि की चर्चाएं; चरणानुयोग में वर्णित उपदेश-शैली, देशना-लब्धि, व्रत, शील, संयम आदि की चर्चाएं; द्रव्यानुयोग में वर्णित वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय स्वरूप, ज्ञान की हीनाधिकता, भेद-विज्ञान, आत्मानुभव आदि की चर्चाएं इत्यादि किसी भी प्रकार की परिवर्तनवाली चर्चाएं, प्रध्वंसाभाव को अस्वीकार करने पर सम्भव नहीं हो सकेंगी।

लौकिक-शिक्षण, वैज्ञानिक शोध-खोज, उद्योग-धन्धे, खेती आदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन संबंधी कार्य, प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर सम्भव नहीं हो सकेगा।

निष्कर्ष यह है कि प्रध्वंसाभाव को नहीं मानने पर लौकिक-अलौकिक किसी भी प्रकार का भविष्य-कालीन परिवर्तन स्वीकार करना, सम्भव नहीं होगा। सभी की वर्तमान दशा को ही अनन्त-कालिक मानना पड़ेगा; पुरुषार्थ पूर्णतया कुण्ठित हो जाएगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध है।

प्रश्न ९ : प्रध्वंसाभाव को मानने से होनेवाले लाभ स्पष्ट कीजिए ?
उत्तर : प्रध्वंसाभाव को मानने से होनेवाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—
१. वर्तमान में कैसी भी दीन-हीन दशा क्यों न हो, उसका आगामी पर्याय में अभाव है—यह समझ में आ जाने पर पामरता नष्ट होकर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का भाव जागृत होता है।

२. इसी के बल पर अन्य को भी उसके गलत कार्यों से तुच्छ मानने का भाव समाप्त हो जाता है; क्योंकि वह भी अच्छा हो सकता है।

३. अपनी अच्छी पर्यायों का भी आगामी पर्यायों में प्रध्वंसाभावरूप अभाव है—यह समझ में आ जाने पर उनसे स्वयं को बड़ा मानने का

भाव समाप्त होकर, उनके प्रति सहज समता-भाव जागृत होता है तथा उनसे भी सतत भेद-विज्ञान करते हुए अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ करने का प्रयास चलता रहता है।

४. इसी समझ के बल पर अन्य की भी वर्तमान में सत्प्रवृत्तियों को देखकर, उनके प्रति भी सहज समता ही रहती है। वर्तमान में यथा-योग्य विनय आदि व्यवहार करने पर भी भावी योजनाओं में उलझकर गृहीत-मिथ्यात्व पुष्ट करने का भाव समाप्त हो जाता है।

५. जब हमारी ही वर्तमान पर्याय प्रध्वंसाभाव के कारण हमारी आगामी पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकती; तब फिर अन्य कोई हमारा क्या कर सकता है ? यह समझ में आ जाने पर निर्भयता, निश्चिंतता जागृत होकर पराधीन-वृत्ति नष्ट होती है और स्वतंत्रता, स्वाधीनता पूर्वक अपनी जिम्मेदारी समझते हुए अपना अच्छा करने के लिए आत्म-लीनता का पुरुषार्थ जागृत होता है।

६. सभी पर्यायें क्षणवर्ती हैं, उनका सभी आगामी पर्यायों में अभाव है—यह समझ में आ जाने पर अन्य को या स्वयं को पर्यायरूप से देखने का भाव ही समाप्त हो जाता है; जिससे पर्याय-मूढ़ता-जन्य राग-द्वेष नष्ट होकर जीवन सहज समतामय वीतरागता-सम्पन्न हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ प्रध्वंसाभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १० : अन्योन्याभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : इसका स्वरूप इसप्रकार है—“**स्वभावान्तरात्स्वभाव-व्यावृत्तिरन्यापोहः**—स्वभावान्तर से स्वभाव की पृथक्ता, अन्यापोह है।” वर्तमान-कालीन एक पुद्गल स्कन्ध का, वर्तमान-कालीन दूसरे पुद्गल स्कन्ध में नहीं होना, अन्योन्याभाव है। इतरेतराभाव, अन्यापोह इत्यादि इसके पर्यायवाची नाम हैं। अन्यः, अन्य और अभाव—इन तीन से ‘अन्योन्याभाव’ पद बना है; अन्य=दूसरे का, अन्य=दूसरे में, अभाव=नहीं होना; दूसरे का दूसरे में नहीं होना, अन्योन्याभाव है। जैसे—घट का, पट में अभाव; चटाई का, पलंग में अभाव; आहार का, शरीर में अभाव; आहार वर्गणा का, कार्मण वर्गणा में अभाव; शरीर का, औषधि में अभाव इत्यादि।

यह अभाव एक-मात्र वर्तमान-कालीन पुद्गल-स्कन्धों में ही

घटित होता है। अन्य द्रव्य या पर्यायों में नहीं। पुद्गल-स्कन्धों की अपनी एक विशेषता है; वह यह कि यद्यपि वर्तमान-कालीन विविध स्कन्ध, एक-दूसरे रूप नहीं होने से, एक दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि वे कालान्तर में अन्य-अन्यरूप हो सकते हैं। जैसे—वर्तमान-कालीन वस्त्र और बर्तन, पृथक्-पृथक् स्कन्ध होने से एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि कालान्तर में वस्त्रगत परमाणु, बर्तन हो सकते हैं और बर्तनगत परमाणु, वस्त्र हो सकते हैं अर्थात् वस्त्र-बर्तन, मात्र अभी पृथक्-पृथक् हैं, त्रैकालिक नहीं; इसे ही अन्योन्याभाव कहते हैं। यह विशेषता मात्र पुद्गल-स्कन्ध में ही होने से यह अन्योन्याभाव भी मात्र उनमें ही घटित होता है। इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि पुद्गल की वर्तमान-कालीन विभाव-पर्यायों का पारस्परिक अभाव, अन्योन्याभाव है।

प्रश्न ११ : अन्योन्याभाव को नहीं मानने से क्या हानि है ?

उत्तर : अन्योन्याभाव को नहीं मानने पर पुद्गल-स्कन्धों की विविधता नहीं बन सकेगी। करणानुयोग में वर्णित कर्म-नोकर्म के भेद-प्रभेद, २३ प्रकार की वर्गणाएं, उनके विविध कार्य, छह द्रव्य-लेश्याएं, कुल-कोटि आदि स्कन्ध की अपेक्षा किए गए किसी भी प्रकार के भेद-प्रभेद सम्भव नहीं होंगे। पर्वत, भूभाग, क्षेत्र, कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, नदी, मेरु आदि की विविधता भी सम्भव नहीं हो सकेगी। स्वर्ग-नरक आदि के भेद-प्रभेद भी नहीं बनेंगे। चरणानुयोग में वर्णित भक्ष्य-अभक्ष्य, पदार्थों की मर्यादाएं, चलित-रस-रूप, रस-परित्याग, धान्य-त्याग आदि मर्यादाएं भी नहीं बन सकेंगी।

लोक-प्रचलित विविध व्यंजन, विविध उद्योग-धन्धे, बैठने-उठने आदि के विविध साधन, विविध वस्त्र-बर्तन, विविध खेल-खिलौने, विविध वैज्ञानिक शोध-खोज, भौतिक संसाधन इत्यादि सभी पौद्गलिक स्कन्धों की पृथक्ता, अन्योन्याभाव को अमान्य करने पर अमान्य करनी होगी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अन्योन्याभाव को नहीं मानने पर वर्तमान में दिखाई देनेवाले सभी पुद्गल-स्कन्धों को तथा जिनागम में प्रतिपादित विविध पुद्गल-स्कन्धों को एक मानना होगा; जो कि

वस्तु-व्यवस्था के विरुद्ध अप्रयोगात्मक, मिथ्या मान्यता है।

प्रश्न १२ : अन्योन्याभाव को समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१. जब वर्तमान-कालीन एक पुद्गल-स्कन्ध, सम-कालीन दूसरे पुद्गल-स्कन्ध का कुछ भी नहीं कर सकता है; आँख, नाक का काम नहीं कर सकती है; नाक, कान का काम नहीं कर सकती है; पुण्य कर्म, पाप कर्म का कार्य नहीं कर सकते हैं; तब फिर वे आत्मा का कुछ भी भला-बुरा कैसे कर सकते हैं ?—यह समझ में आ जाने पर कर्म हमें परेशान करते हैं, कर्मों के कारण हम धर्म नहीं कर पा रहे हैं, इत्यादि विपरीत मान्यताएं नष्ट होकर अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप-स्थिरता करके अपना अच्छा करने का भाव जागृत होता है।

२. अन्योन्याभाव होने से एक स्कन्ध, दूसरे स्कन्ध का कुछ भी करने में समर्थ ही नहीं है; यह समझ में आ जाने से शारीरिक रोग नष्ट करने के लिए, शरीर को पुष्ट करने के लिए अशुद्ध औषधियों, अशुद्ध/अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का भाव नष्ट हो जाता है।

३. इसीप्रकार पदार्थों में मिलावट आदि तथा धन आदि पृथक्-पृथक् स्कन्ध होने के कारण मिलावट से धन/कमाई का कुछ भी संबंध नहीं है—यह समझ में आ जाने पर अन्याय, अनीति, असदाचार आदि दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट होकर जीवन न्याय, नीति, सदाचार-सम्पन्न हो जाता है।

४. इसी अन्योन्याभाव की समझ के बल पर सभी स्कन्धों की स्वतंत्रता का ज्ञान होने से पर-कर्तृत्व का भाव नष्ट हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ इस प्रकरण को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १३ : अत्यंताभाव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : इसका स्वरूप इसप्रकार है—“कालत्रयापेक्षाभावोऽत्यन्ता-भावः—तीन काल की अपेक्षा नहीं होना, अत्यन्ताभाव है।” द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावात्मक एक वस्तु का वैसी ही अन्य वस्तु में नहीं होना, अत्यंताभाव है।

अत्यंताभाव पद, अत्यंत और अभाव—इन दो से मिलकर बना है। अत्यंत=पूर्णतया/सर्वथा, अभाव=नहीं होना; अर्थात् एक वस्तु

का दूसरी वस्तु में पूर्णरूप से कभी भी नहीं होने को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—एक जीव का, अन्य जीव में नहीं होना; जीव का, पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों में नहीं होना; एक परमाणु का, दूसरे परमाणु में नहीं होना; पुद्गल का, जीवादि अन्य द्रव्यों में नहीं होना, अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न १४ : अत्यन्ताभाव को नहीं मानने से क्या हानि है ?

उत्तर : अत्यन्ताभाव को नहीं मानने पर सब द्रव्य, सब रूप हो जाएंगे; किसी का कोई अपना स्वरूप नहीं रहेगा। जाति-अपेक्षा से छह और संख्या-अपेक्षा से अनन्तानन्त द्रव्यों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। ऐसा होने पर संसार और सिद्ध दशा सिद्ध नहीं होगी, आत्मा-परमात्मा सिद्ध नहीं होंगे; तब फिर धर्म-कर्म की, उपदेश आदि की, सदाचरण आदि की, भेद-विज्ञान आदि की, आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ आदि की आवश्यकता ही सिद्ध नहीं हो सकेगी। जड़ और चेतन की पृथक्-पृथक् सत्ताएं सिद्ध नहीं होने पर चार गति, चौरासी लाख योनिआँ, गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीव-समास आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

अत्यन्ताभाव नहीं मानने पर जड़ और चेतन की पृथक्-पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होने से वैज्ञानिक शोध-खोज के लिए कहीं कोई अवसर नहीं रहेगा। जन्म, जरा, रोग, मरण आदि के लिए अवसर नहीं रहने से डॉक्टर, मेडीसन आदि भी अनावश्यक हो जाएंगे।

निष्कर्ष यह है कि अत्यन्ताभाव नहीं मानने पर वस्तु की स्व-स्वरूप-सम्पन्न सत्ता सिद्ध नहीं होने से लौकिक तथा अलौकिक उन्नति आदि के लिए कहीं कोई अवसर शेष नहीं रह जाने के कारण पुरुषार्थ पूर्णतया कुण्ठित हो जाएगा; जो कि वस्तु-व्यवस्था के पूर्णतया विरुद्ध है।

प्रश्न १५ : अत्यन्ताभाव को समझने से होनेवाले लाभ बताइए ?

उत्तर : इसे समझने से होनेवाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं—

१. सभी द्रव्यों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव होने से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं है—यह समझ में आ जाने पर कोई भला या बुरा कर देगा—इस मान्यता को लेकर होने वाली परमुखापेक्षी

या भय-वृत्ति नष्ट होकर जीवन स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय हो जाता है। २. इसी समझ के बल पर, पर-कर्तृत्व का भाव भी नष्ट हो जाता है; जिससे जीवन सहज निराकुल, निश्चित, तनाव-मुक्त, निर्भार हो जाता है।

३. इसी समझ के बल पर अनुकूल संयोग आदि सुख के कारण हैं—यह मान्यता नष्ट हो जाने से उन्हें एकत्रित करने का भाव समाप्त हो जाता है; जिससे जीवन सहज ही आरम्भ-परिग्रहमय अशुद्ध भावों से रहित हो जाता है।

४. इसी समझ के बल पर हम स्वयं ही अपने दोषों/दुःखों के जिम्मेदार हैं, कोई कर्म आदि या अन्य पर-पदार्थ नहीं—यह सत्य स्वीकृत हो जाने से अपने दोषों को नष्ट करने की अपनी जिम्मेदारी समझकर आत्मोन्मुखी वृत्ति द्वारा उन्हें नष्ट करने की दिशा में पुरुषार्थरत हो जाते हैं।

५. इसी समझ के बल पर स्व-पर का यथार्थ भेद-विज्ञान जागृत हो जाने से उपयोग सहज ही पर से हटकर स्वरूप-स्थिर हो जाता है; जिससे जीवन सहज ही सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ अत्यन्ताभाव को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १६ : चारों अभावों को समझने से होनेवाले लाभों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

उत्तर : इन चारों अभावों को समझने से स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, पर से आशा की चाह/पराधीन-वृत्ति समाप्त हो जाती है, भय का भाव नष्ट होकर निर्भयता/निश्चितता व्यक्त होती है, भूत-काल और वर्तमान-कालीन कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होनेवाली दीनता-हीनता-पामरता नष्ट होकर स्व-सम्मुखता का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर्याय मात्र से दृष्टि हटकर अपने शाश्वत ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होने से जीवन सहज सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाता है; इसकी ही पूर्णता में संसार से मुक्त हो सिद्ध दशा की प्राप्ति हो जाती है।

इत्यादि अनेकानेक लाभ, अभावों को समझने से प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १७ : प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : दोनों अभाव होने पर भी इनमें पारस्परिक अन्तर इसप्रकार है—

प्रागभाव	प्रध्वंसाभाव
१. वर्तमान पर्याय का भूत-कालीन पर्याय में अभाव, प्रागभाव है।	वर्तमान पर्याय का भविष्य-कालीन पर्याय में अभाव, प्रध्वंसाभाव है।
२. इसे स्वीकार नहीं करने पर प्रत्येक पर्याय को अनादि की स्थाई मानना पड़ेगा।	इसे स्वीकार नहीं करने पर प्रत्येक पर्याय को अनन्त-काल पर्यंत स्थाई मानना पड़ेगा।
३. इसे नहीं मानने पर अनादि का परिवर्तन अवरुद्ध होता है।	इसे नहीं मानने पर अनन्त-कालीन परिवर्तन अवरुद्ध होता है।
४. प्रागभाव, वर्तमान पर्याय को भूत-कालीन पर्यायों से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्र सिद्ध करता है। इत्यादि अनेक प्रकार से दोनों में पारस्परिक अन्तर है।	प्रध्वंसाभाव, वर्तमान पर्याय को भविष्य-कालीन पर्यायों से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्र सिद्ध करता है।

प्रश्न १८ : अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर : दोनों अभाव होने पर भी इनमें पारस्परिक अन्तर इस प्रकार है—

अन्योन्याभाव	अत्यन्ताभाव
१. वर्तमान-कालीन एक पुद्गल स्कंध का, वर्तमान-कालीन दूसरे पुद्गल स्कंध में नहीं होना, अन्योन्याभाव है।	स्वचतुष्टयात्मक एक द्रव्य का, स्वचतुष्टयात्मक दूसरे द्रव्य में नहीं होना, अत्यन्ताभाव है।
२. यह मात्र वर्तमान-कालीन पुद्गल-स्कंधों में घटित होता है।	यह सभी द्रव्यों में सदा घटित होता है।
३. यह त्रैकालिक नहीं है।	यह त्रैकालिक है।
४. इससे पुद्गल-स्कंधों की परस्पर निरपेक्ष, स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।	इससे सभी द्रव्यों की परस्पर निरपेक्ष, स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है।
५. इसे न मानने पर सभी पुद्गल स्कंध मिलकर एक हो जाएंगे; जिससे भेद-प्रभेदमय कर्म-सिद्धांत, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।	इसे न मानने पर सभी द्रव्य मिलकर एक हो जाने से किसी का कोई अपना सुनिश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाने के कारण स्व-पर का भेद-विज्ञान आदि सम्भव नहीं हो सकेगा।

६. यह मात्र पुद्गल की वर्तमान कालीन विभाव पर्यायों में घटित होता है।

इत्यादि अनेक प्रकार से दोनों में पारस्परिक अन्तर है।

प्रश्न १९ : ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है—इस कथन की अभावों के संदर्भ में समीक्षा कीजिए ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म का क्षय, पौद्गलिक कार्मण वर्गणा का परिणमन है; केवलज्ञान, जीव के ज्ञान-गुण का पूर्ण विकसित परिणमन है। पुद्गल कर्म और जीव—इन दोनों में अत्यन्ताभाव होने से, दोनों ही एक-दूसरे से पूर्ण निरपेक्ष, परिपूर्ण सत् हैं। दोनों में अपना-अपना कार्य अपनी-अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्र योग्यता से होता है; एक दूसरे के कारण नहीं। इस प्रकार ज्ञानावरण का क्षय, उसकी अपनी स्वतंत्र योग्यता से हुआ है तथा जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति, जीव की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से हुई है। एक-दूसरे के कारण एक-दूसरे में रंच-मात्र कार्य नहीं हुआ है।—यह अभाव के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन की समीक्षा है।

प्रश्न २० : 'कर्म के उदय से शरीर में रोग होता है'—इस कथन की अभावों के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए ?

उत्तर : कर्म का उदय पौद्गलिक कार्मण-वर्गणामय स्कन्ध का परिणमन है और शरीर का रोग पौद्गलिक आहार-वर्गणामय स्कन्ध का परिणमन है। इन दोनों में अन्योन्याभाव है; अतः इन दोनों का परिणमन एक-दूसरे से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्रतया अपनी-अपनी योग्यता से हुआ है। कर्म का उदय, पूर्व-बद्ध कर्म रूप कार्मण वर्गणा का स्वतन्त्र परिणमन है और शरीर में रोग होना, आहार वर्गणा का स्वतन्त्र परिणमन है। इस प्रकार अन्योन्याभाव के कारण अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही अपने-अपने में कार्य हुआ है; एक-दूसरे के कारण एक-दूसरे का कार्य नहीं हुआ है।—यह अभाव के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन की समीक्षा है।

प्रश्न २१ : 'यह आदमी चोर है; क्योंकि इसने पहले स्कूल में पढ़ते समय मेरी पुस्तक चुरा ली थी'—इस कथन की अभाव के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए ?

उत्तर : इस आदमी की पहले स्कूल में पढ़ते समय, पुस्तक चुराने रूप पर्याय में इस वर्तमान पर्याय का अभावरूप प्रागभाव है ; जिसके कारण पहले की पर्याय अभी की पर्याय से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्रतया व्ययरूप है तथा अभी की पर्याय पहले की पर्याय से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतंत्रतया उत्पादरूप है। जो पर्याय अभी है ही नहीं तथा जिसमें अभी प्रागभाव है, वह अपनी दुष्प्रवृत्ति से अभी की पर्याय को चोर कैसे बना सकती है ? यदि इस व्यक्ति ने पहले पढ़ते समय पुस्तक चुराई थी तो पर से पूर्ण निरपेक्ष उस समय की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से और यदि यह व्यक्ति अभी चोर है तो पर से पूर्ण निरपेक्ष इस समय की अपनी स्वतंत्र योग्यता से है। अभी का पहले की चोर-पर्याय में प्रागभाव होने से, पहले की चोर-पर्याय के कारण अभी यह आदमी चोर नहीं है। यदि यह चोर है तो इस समय की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से चोर है—यह अभावों के सन्दर्भ में इस कथन की समीक्षा है।

प्रश्न २२ : ज्ञानावरण कर्म और केवलज्ञान में अत्यन्ताभाव तथा कर्म और शरीर में अन्योन्याभाव होने से यदि ये कार्य परस्पर पूर्ण निरपेक्ष, पूर्णतया अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता से हुए हैं तो जिनागम में उपर्युक्त कथन क्यों मिलते हैं ?

उत्तर : इस असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में निरंतर परिणमन-शील तथा गतिमान अनंतानंत जीव-अजीव द्रव्य विद्यमान होने से उनमें परस्पर घनिष्ठतम निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी सहज बनता रहता है। जीव के परिणाम और पुद्गल कर्म का भी ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अपनी-अपनी योग्यता से एक ही समय दोनों में कार्य होते रहने से जिस पर अनुकूलता का आरोप आता है, उसे उपचार से उसका कर्ता कह दिया जाता है।

इसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध की मुख्यता से वास्तविक निमित्त का ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान हुआ, कर्म के उदय से शरीर में रोग हुआ इत्यादि।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिए जिनागम में ऐसे अनेकानेक कथन उपलब्ध हैं; परन्तु वे सभी, काल-प्रत्यासत्ति की

मुख्यता से (एक समय में घटित हुई घटनाओं की अपेक्षा) किए गए औपचारिक कथन समझना चाहिए। स्वयं से अभिन्न और पर से भिन्न अनन्त धर्मात्मक वस्तु की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता सिद्ध करनेवाले भाव-अभाव धर्म की ओर से देखने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव में कोई भी द्रव्य, किसी भी अन्य द्रव्य का/ उसके कार्य का रंच-मात्र कर्ता, हर्ता, धर्ता नहीं है। यह वस्तु-स्वातन्त्र्य ही मोह, राग, द्वेषादि विकारी भावों को नष्ट करने का; अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जीने के लिए विश्व-व्यवस्था, वस्तु-व्यवस्था को समझने का अनुपम वरदान है।

प्रश्न २३ : प्रस्तुत जोड़ों में सहेतुक पारस्परिक अभाव को स्पष्ट कीजिए—**क.** इच्छा और भाषा, **ख.** चश्मा और ज्ञान, **ग.** शरीर और वस्त्र, **घ.** शरीर और जीव।

उत्तर : निम्नलिखित जोड़ों में पारस्परिक अभाव इसप्रकार है—
क. इच्छा और भाषा : इच्छा, जीव द्रव्य के चारित्र-गुण की विकृत पर्याय होने से और भाषा, भाषा वर्णारूप पौद्गलिक-स्कन्ध का परिणमन होने से, इन दोनों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव है।

ख. चश्मा और ज्ञान : चश्मा, आहार-वर्णारूप पौद्गलिक स्कन्ध का परिणमन होने से तथा ज्ञान, जीव के ज्ञान-गुण की पर्याय होने से, इन दोनों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव है।

ग. शरीर और वस्त्र : शरीर, आहार-वर्णारूप पुद्गल का एक स्वतंत्र स्कन्ध होने से तथा वस्त्र आहार-वर्णारूप पुद्गल का एक स्वतंत्र स्कन्ध होने से, इन दोनों में पारस्परिक अन्योन्याभाव है।

घ. शरीर और जीव : शरीर, आहार-वर्णारूप पौद्गलिक-स्कन्ध का स्वतंत्र परिणमन होने से तथा जीव, ज्ञानानन्दमय स्व-चतुष्टयात्मक सत्ता-सम्पन्न एक स्वतंत्र पृथक् द्रव्य होने से, इन दोनों में पारस्परिक अत्यन्ताभाव है।

प्रश्न २४ : इन चार अभावों के अतिरिक्त क्या और भी कोई अभाव होते हैं ?

उत्तर : जिनागम में इन चार अभावों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभावों का भी वर्णन उपलब्ध है। वह इसप्रकार—

१. तदभाव/अतदभाव/स्वरूपाभाव : आचार्य कुन्दकुन्ददेव तदभाव

को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में लिखते हैं—

“पविभक्तपदेसत्तं, पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो, ण तब्भवं होदि कधमेगं॥१६॥
सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो॥१०७॥
जं दव्वं तं ण गुणो, जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो, णेव अभावो त्ति णिद्धिट्ठो॥१०८॥

विभक्त-प्रदेशत्व (जिनके प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं वह), पृथक्त्व और अतद्भाव (उस रूप नहीं होना), अन्यत्व है। जो उसरूप नहीं हो, वह एक कैसे हो सकता है ? ऐसा वीर का शासन/उपदेश है। सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय—इसप्रकार सत् का विस्तार है। (उनमें परस्पर) जो वास्तव में उसका अभाव/उसरूप होने का अभाव है, वह तद्भाव या अतद्भाव है।

(संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा) जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है—यह अतद्भाव है; सर्वथा अभाव वह अतद्भाव नहीं है—ऐसा (भगवान ने) बताया है।”

इन गाथाओं में पृथक्ता और अन्यता का भेद स्पष्ट करते हुए तद्भाव की चर्चा की गई है। जिनके प्रदेश पृथक्-पृथक् होते हैं, उनमें परस्पर पृथक्ता होती है। जैसे—जीव, पुद्गल आदि।

जिनके प्रदेश तो एक ही हैं; पर नाम, लक्षण आदि भिन्न-भिन्न हैं; उनमें परस्पर अन्यता होती है। जैसे—एक ही पदार्थ के द्रव्य, गुण, पर्याय आदि। अन्यता को ही अन्यत्व, तद्भाव, अतद्भाव, स्वरूपाभाव आदि कहते हैं।

२. प्रसज्याभाव : तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य भट्ट अकलंकदेव लिखते हैं—“प्रत्यक्षो न भवतीत्यप्रत्यक्ष इति प्रसज्य-प्रतिषेधो..। जो प्रत्यक्ष नहीं है, वह अप्रत्यक्ष है—ऐसा प्रसज्याभाव है।”

न्याय-विनिश्चयवृत्ति के अनुसार “वस्तु का अभाव मात्र दर्शाना, प्रसज्याभाव है। जैसे—इस भूतल पर घट नहीं है।”

इसप्रकार निषेध-वाचक अभाव को प्रसज्याभाव कहते हैं।

३. पर्युदासाभाव : (वहीं) “प्रत्यक्षादन्योऽप्रत्यक्षः इति पर्युदासः

—प्रत्यक्ष से अन्य अप्रत्यक्ष है—ऐसा पर्युदासाभाव है।”

इसके द्वारा एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण किया जाता है। जैसे—प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है इत्यादि।

इसप्रकार जिनागम में अन्य अभावों की भी चर्चा उपलब्ध होती है।

अभाव की समग्र चर्चा का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि प्रत्येक पदार्थ का, उसके अंशों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार कर हम करने-धरने के भाव से निवृत्त हो, पर से पूर्ण निरपेक्ष, स्वतन्त्र, अनन्त वैभव-संपन्न अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा को अपनत्वरूप से जानकर, पहिचानकर, इसमें ही स्थिर रहें; जिससे मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भावों का अभाव होकर, जीवन सम्यक् रत्नत्रय-सम्पन्न अतीन्द्रिय आनन्दमय हो जाए।

इसप्रकार सुखमय जीवन जीने के लिए अभावों को समझना अत्यावश्यक है।

५

चेतन यह बुधि कौन सयानी

चेतन यह बुधि कौन सयानी, कही सुगुरु हित सीख न मानी॥
कठिन काक-ताली ज्यों पायौ, नरभव सुकुल श्रवन जिनवानी॥चेतन।
भूमि न होत चाँदनी की ज्यों, त्यों नहि धनी ज्ञेय को ज्ञानी।
वस्तुरूप यौ तू यौ ही शठ, हटकर पकरत सोंज विरानी॥१॥चेतन।
ज्ञानी होय अज्ञान राग-रुष कर निज सहज स्वच्छता हानी।
इन्द्रिय जड़ तिन विषय अचेतन, तहाँ अनिष्ट इष्टता ठानी॥२॥चेतन।
चाहै सुख, दुख ही अवगाहै, अब सुनि विधि जो है सुखदानी।
‘दौल’ आपकारि आप आपमें, ध्याय ल्याय लय समरससानी॥३॥चेतन।

हम तो कबहूँ न निज घर आए

पर-घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये॥हम तो।
पर-पद निज-पद मानि मगन ह्वै, पर-परनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुख कंद मनोहर, चेतन भाव न भाये॥१॥हम तो।
नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखंड अतुल अविनाशी, आतमगुन नहिं गाये॥२॥हम तो।
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
‘दौल’ तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुनाये॥३॥हम तो।

पाठ ८ : पाँच पाण्डव

प्रश्न १ : आचार्य जिनसेन का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए?

उत्तर : अपनी वर्णन-क्षमता और काव्य-प्रतिभा की अपूर्वता के कारण आचार्य जिनसेन प्रबुद्धाचार्यों की श्रेणी में अग्र-गण्य हैं। आप पुत्राट संघ के आचार्य हैं। पुत्राट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। आचार्य हरिषेण की कृति कथा-कोश के अनुसार भद्रबाहु स्वामी के आदेशानुसार उनका संघ चंद्रगुप्त या विशाखाचार्य के साथ दक्षिणापथ के पुत्राट देश में गया था; अतः इस देश के मुनि-संघ का नाम पुत्राट-संघ पड़ गया।

आपके गुरु का नाम कीर्तिषेण था। आपने अपनी कृति 'हरिवंश-पुराण' में अन्तिम तीर्थ-नायक वर्धमान स्वामी के निर्वाण के बाद ६८३ वर्ष के अनन्तर अपने गुरु कीर्तिषेण पर्यन्त अपनी अविच्छिन्न गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है।

आज आपकी एक-मात्र रचना हरिवंश-पुराण ही जन-जन के मानस-पटल पर व्याप्त है। इसके रचना-स्थान का निर्देश करते हुए आपने स्वयं इसी कृति में लिखा है कि शक संवत् ७०५ (ई.सन् ७८३) में जिस समय उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण-पुत्र श्रीबल्लभ, पूर्व की अवन्ति-नृपति वत्सराज और पश्चिम/सौरों के अधिमंडल सौराष्ट्र की वीर जय-वराह रक्षा कर रहे थे; उस समय लक्ष्मी से समृद्ध वर्धमानपुर के नन्नराज-वसति नाम से प्रसिद्ध पार्श्व-जिनालय में इस ग्रंथ का प्रणयन प्रारम्भ हुआ और दोस्तटिका के शान्ति-जिनालय में इसकी पूर्णता हुई।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. ए. एन. उपाध्ये के मतानुसार यह वर्धमानपुर काठियावाड़ का वर्तमान बड़वान है; परन्तु डॉ. हीरालाल जैन के मतानुसार मध्यप्रदेश के धार जिले का बदनावर स्थान ही वर्धमानपुर है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे लिखते हैं कि इस बदनावर में प्राचीन जैन-मंदिरों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं; यहाँ से दूतरिया/प्राचीन दोस्तटिका नामक ग्राम भी समीप है तथा हरिवंशपुराण में वर्णित राज्य विभाजन की सीमाएं भी इस स्थान से सम्यक् घटित हो जाती हैं। सम्भव है कि उस समय वर्धमानपुर जैन-संघ का केन्द्र रहा

हो तथा मालवा में राष्ट्रकूट नरेशों का प्रभुत्व स्थापित होने पर बदनावर में जैन-पीठ की स्थापना हुई हो।

आचार्य जिनसेन ने ग्रंथ-रचना का काल स्वयं निर्दिष्ट किया होने से आपके स्थिति-समय के संबंध में मत-भेद की संभावना नहीं है। शक संवत् ७०५ तदनुसार विक्रम संवत् ८४०, ई. सन् ७८३ में 'हरिवंश-पुराण' की रचना पूर्ण हुई होने से आपका समय लगभग ई. सन् ७४८-८१८ सिद्ध होता है। आप महापुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य से पूर्ववर्ती होने के कारण जिनसेन प्रथम नाम से प्रसिद्ध हैं।

पुराण-ग्रंथों में पद्म-पुराण के बाद सर्वाधिक पढ़ा जानेवाला हरिवंश-पुराण ही आपकी अक्षय-कीर्ति के लिए एक-मात्र उपलब्ध कृति है। छ्याषठ सर्ग और बारह हजार श्लोकों में निबद्ध इसमें बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का चरित्र विशद रूप से वर्णित है। प्रसंग-वश नारायण श्रीकृष्ण, बलभद्र-पदधारी बलदेव/बलराम, कौरव, पाण्डव आदि इतिहास-प्रसिद्ध अनेक महा-पुरुषों के चरित्र भी इसमें अति सुन्दरतम रूप में निबद्ध हैं।

प्रथमानुयोग की शैली में निबद्ध यह ग्रंथ वास्तव में ज्ञान-कोश है। इसमें कर्म-सिद्धांत, आचार-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान एवं आत्मानुभूति संबंधी विशद चर्चाएं चर्चित हैं। साहित्यिक सुषमा से समृद्ध यह ग्रंथ, उच्च-कोटि का महा-काव्य भी है। मणि-कांचन संयोग के समान इसमें मार्ग-दर्शक सूक्तिआँ भी निहित हैं।

पुराण-ग्रंथ होने से अपने पूर्ववर्ती पुराणकारों-पुराणों/रविषेणाचार्य के पद्म-पुराण और जटासिंहनेदि के वरांग-चरित्र का तो इस पर प्रभाव है ही; इसके साथ ही इसका लोक-विभाग और शलाका पुरुषों का वर्णन तिलोय-पण्णत्ति से प्रभावित है; द्वादशांग वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक के अनुरूप है; तत्त्व-प्रतिपादन तत्त्वार्थ सूत्र और सर्वार्थसिद्धि को आधार मानकर किया गया है; संगीत का वर्णन भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से अनुप्राणित है—इसप्रकार इस पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित होता है।

जयपुर के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने इस पर एक भाषा-टीका लिखी है।

नेमिनाथ भगवान के पावन जीवन का वर्णन कर यह पुराण-ग्रंथ, मानव-जीवन के समक्ष कर्तव्य और आदर्श की स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करता है; अतः हमें गहराई से इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न २ : पाण्डवों की कहानी लिखिए ?

उत्तर : बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के सम-कालीन पाँच पाण्डव, त्रिखंडाधिपति नारायण कृष्ण के महा-माण्डलिक राजाओं में प्रमुख थे। हस्तिनापुर के कुरुवंशी प्रसिद्ध राजा पद्मरथ के कुल में शक्ति नामक महा-प्रतापी एक राजा हुए हैं। उनकी शतकी नामकी रानी से पाराशर नामक महा-प्रतापी पुत्र हुआ। गुण-संपन्न राजकुमार पाराशर के गंगा नामक पत्नि से गांगेय नामक पुत्र हुआ। जो बाद में शादी व राज्य नहीं करने की दृढ़तम प्रतिज्ञा के कारण भीष्म पितामह नाम से प्रसिद्ध हुए।

धृतराज के दूसरे भाई रुक्मण के पुत्र भीष्म के रूप में भी भीष्म पितामह की प्रसिद्धि है। पाराशर ने पुनः मत्स्य-कुलोत्पन्न राजकुमारी सत्यवती से विवाह किया; जिससे व्यास उपनामधारी धृतराज नामक पुत्र का जन्म हुआ। धृतराज के अंबिका, अंबालिका और अंबा नामक तीन रानियों से क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—ये तीन पुत्र हुए।

हरिवंश के राजा सुवीर की पत्नि कलिंगी से जन्मे भोजकवृष्टि की सुमति नामक रानी से उग्रसेन, महासेन, देवसेन नामक तीन पुत्र और गांधारी नामक एक पुत्री का जन्म हुआ। गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र से हुआ। उनसे दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र हुए; जो कुरुवंशी होने से बाद में कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए।

हरिवंश के दूसरे राजा शूर की सुन्दरी नामक पत्नि से अन्धकवृष्टि नामक पुत्र हुआ। अंधकवृष्टि की रानी भद्रा से समुद्र-विजय आदि दश पुत्र तथा कुन्ती और माद्री नामक दो पुत्रियाँ हुईं। दोनों पुत्रियों का विवाह, पाण्डु राजा से हुआ। विवाह के पूर्व कुन्ती से कर्ण नामक पुत्र का जन्म हुआ। जिसे लोक-निन्दा के भय से छोड़ दिया था। विवाह के बाद युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन—इन तीन पुत्रों का जन्म हुआ। माद्री से नकुल और सहदेव—इन दो पुत्रों का जन्म हुआ। ये पाँच, पाण्डु के पुत्र होने के कारण बाद में पाँच पाण्डव नाम से प्रसिद्ध हुए। अन्धकवृष्टि के पहले पुत्र समुद्र-विजय से बाईसवें

तीर्थंकर नेमिनाथ तथा अन्तिम दशवें पुत्र वसुदेव से नवमें बलभद्र, बलदेव और नवमें नारायण, कृष्ण का जन्म हुआ था। इसप्रकार पाण्डव, कृष्ण आदि की बुआ के पुत्र थे।

इनमें से युधिष्ठिर गंभीर प्रकृति के सहज धर्मानुरागी, न्यायवंत राजा होने से सत्यवादी, धर्मराज युधिष्ठिर के नाम से प्रसिद्ध हुए। भीम में शारीरिक बल अतुलनीय था, वे मल्ल-विद्या में अद्वितीय तथा गदा चलाने में प्रवीण थे। अर्जुन अपनी बाण-विद्या में जगत-प्रसिद्ध धनुर्धर थे।

भार्गव-वंशी, धनुर्विद्या में प्रवीण गुरु द्रोणाचार्य, इन सभी के गुरु थे। इनका पुत्र अश्वत्थामा भी इनके समान ही धनुर्विद्या में प्रवीण था।

राजा पाण्डु के दीक्षित होकर स्वर्ग सिंधारने के बाद कौरव और पाण्डवों में राज्य को लेकर तनाव रहने लगा। यद्यपि भीष्म, विदुर और द्रोणाचार्य ने मध्यस्थता पूर्वक दोनों को आधा-आधा राज्य देकर समझौता करा दिया था, पर उनका मानसिक द्वन्द्व समाप्त नहीं हो सका।

दुर्योधन, सतत उन्हें नष्ट करने का विचार किया करता था। एक बार उसने लाक्षागृह बनवाकर कृत्रिम स्नेह दिखाते हुए पाण्डवों को अत्याग्रह पूर्वक उसमें रहने के लिए बाध्य किया। जब पाण्डव निश्चित हो रहने लगे; तब एक बार उसने अवसर पाकर रात्रि में उसमें आग लगवा दी। लाक्षागृह पूर्णतया जल गया। पाण्डव तो पहले से सावधान होने के कारण सुरंग मार्ग से निकलकर अन्यत्र चले गए; पर लोगों ने यही समझा कि पाण्डव जल गए हैं। इस काण्ड से लोक में कौरवों की निंदा भी अत्यधिक हुई; पर दुर्योधन ने अपने कुशल प्रशासन से पुनः लोगों का मन अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

यहाँ पाण्डव, छद्म-वेश धारण कर गुप्त-वास करते हुए घूमते-घूमते एक बार राजा द्रुपद की राजधानी माकन्दी पहुँच गए। वहाँ राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। 'इस देवोपुनीत धनुष को चढ़ानेवाला ही द्रौपदी का पति होगा'—ऐसी वहाँ घोषणा की गई थी। उस स्वयंवर में दुर्योधन आदि कौरव तथा और भी अनेक राजा आए हुए थे; पर उस धनुष को कोई भी नहीं चढ़ा सका। विप्र-वेशी अर्जुन ने उसे क्रीड़ा-मात्र में चढ़ा दिया और अपनी प्रतिज्ञानुसार द्रौपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी।

दुर्योधन आदि राजाओं को यह अच्छा नहीं लगा कि उनकी उपस्थिति में द्रौपदी, एक साधारण विप्र का वरण करे। इसके लिए उन्होंने अन्य राजाओं को भी भड़काया; जिससे पाँच पाण्डवों और दुर्योधन आदि अन्यान्य राजाओं के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया। धनुर्धारी अर्जुन के समक्ष जब कोई भी धनुर्धारी नहीं टिक सके; तब स्वयं गुरु द्रोणाचार्य उससे युद्ध करने आए। गुरु को सामने आया देखकर विनय से नम्रीभूत हो अर्जुन ने गुरु को नमस्कार परक बाण द्वारा अपना परिचय-पत्र गुरु के पास भेजा।

गुरु द्रोणाचार्य को जब यह ज्ञात हुआ कि ये विप्र-वेश-धारी अर्जुन आदि पाँच पाण्डव हैं; तो उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने सभी को यह समाचार सुना दिया। एक बार पुनः गुरु द्रोण और भीष्म-पितामह ने कौरव और पाण्डवों में मेल-मिलाप करा दिया। दोनों पुनः आधा-आधा राज्य लेकर हस्तिनापुर में रहने लगे।

इतना सब होने के बाद भी कौरवों की राज्य-विषयक तृष्णा शान्त नहीं हुई। वे सदैव यही विचार किया करते थे कि सम्पूर्ण राज्य हमें कैसे मिले ? एक बार दुर्योधन और युधिष्ठिर शर्त लगाकर पासों का खेल खेल रहे थे। उन्होंने उसमें बारह वर्ष के लिए राज्य को भी दाव पर लगा दिया। दुर्योधन कपट से दाव जीत गया और युधिष्ठिरादि पाण्डवों को बारह वर्ष पर्यन्त राज्य छोड़कर अज्ञात-वास में रहना पड़ा।

गुप्त-वेश में घूमते-घूमते एक बार वे विराट-नगर पहुँचे। वहाँ राजा विराट के यहाँ वे, गुप्त-वेश में ही विविध पदों पर कार्य करने लगे। युधिष्ठिर, पण्डित बनकर; भीम, रसोइया बनकर; अर्जुन, नर्तकी बनकर; नकुल और सहदेव, अश्व-शाला के अधिकारी बनकर तथा द्रौपदी, मालिन बनकर वहीं रहने लगी।

समय बीतता गया। राजा विराट की रानी सुदर्शना का भाई कीचक, द्रौपदी को साधारण मालिन समझकर, अनेक प्रकार के लोभ दिखा-दिखाकर अपना बुरा भाव प्रगट करने लगा। द्रौपदी ने यह बात अपने जेठ भीम से कही। भीम ने उससे कहा कि तुम उस कीचक से नकली स्नेह-पूर्ण बातें बनाकर मिलने का स्थान और समय निश्चित कर मुझे बता देना। आगे मैं सब देख लूँगा। पापी

कीचक को अपने किए की सजा मिलनी ही चाहिए।

द्रौपदी ने नकली स्नेह दिखाकर उससे रात्रि का समय और एकान्त स्थान निश्चित कर भीम को बता दिया। भीम, द्रौपदी के वस्त्र पहिनकर निश्चित स्थान पर निश्चित समय से पूर्व ही पहुँच गए।

कामासक्त कीचक वहाँ पहुँचा, तो द्रौपदी को आया जानकर अत्यधिक प्रसन्न हो उससे प्रेमालाप करने लगा; किन्तु जब उसे उस प्रेमालाप का उत्तर भीम के कठोर मुष्टिका-प्रहारों से मिला, तो वह तिलमिला उठा। उसने अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिरोध करने का भरपूर प्रयत्न किया; पर भीम के आगे उसकी एक नहीं चली; अतः निर्मद हो दीन-हीन हो गया। उसे अपनी करनी का फल मिल गया था; अतः उसे दीन-हीन देखकर दयालु भीम ने भविष्य में कभी पुनः ऐसा काम नहीं करने की चेतावनी देकर छोड़ दिया।

वहाँ से घूमते-घूमते वे अपने मामा के यहाँ द्वारिका चले गए। द्वारिकाधीश कृष्ण के पिता वसुदेव, भगवान नेमिनाथ के पिता समुद्र-विजय, पाण्डवों के मामा थे। उन्होंने बहिन-सहित आए अपने भानजों का अत्यधिक आदर-सत्कार किया।

इधर नौवें प्रतिनारायण जरासंध को रत्न-व्यापारी जौहरियों के माध्यम से जब देव-रचित, सर्व साधन-सम्पन्न, अति समृद्ध द्वारिका नगरी का परिचय प्राप्त हुआ तो उसे जीतने के लिए उसने युद्ध की भेरी बजवा दी। अपने-अपने सभी सहयोगी राजाओं को एकत्रित कर दोनों ओर से युद्ध प्रारम्भ हो गया। कौरवों ने प्रतिनारायण जरासंध का और पाण्डवों ने नारायण कृष्ण का साथ दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। अन्ततः विजयश्री कृष्ण को मिली; वे त्रिखण्डाधिपति अर्धचक्री हो गए। पाण्डवों को महा-माण्डलिक राजाओं के रूप में पुनः हस्तिनापुर आदि कुरु-क्षेत्र का राज्य मिल गया।

पुनः राजा बन जाने पर भी पूर्व-भवों में अन्य के बसे हुए घरों को उजाड़ने से बँधा हुआ पाप-कर्म नष्ट नहीं होने के कारण पुनः उन्हें राज्य से वंचित होना पड़ा। हुआ यह कि अंतःपुर में आए नारद के आगमन से अनभिज्ञ द्रौपदी द्वारा अपनी उचित विनय नहीं पाने से रुष्ट हो नारद ने उसका एक चित्र, धातकी-खण्ड की अमरकंकापुरी में राजा पद्मनाभ

को दिखा दिया। कामासक्त हो पद्मनाभ ने एक देव की सहायता से सोती हुई द्रौपदी को अपने महल में उठवा लिया। बाद में कृष्ण की सहायता से पाण्डवों ने द्रौपदी को प्राप्त किया। द्रौपदी को वापिस लाते समय गंगा नदी के तट पर भीम द्वारा कृष्ण के प्रति मजाक किए जाने से क्रोधित हो कृष्ण ने हस्तिनापुर से पाण्डवों को निष्कासित कर दिया। भटकते-भटकते मथुरा की गुफाओं में उन्हें शरण लेनी पड़ी।

बहुत काल बाद द्वारिका-दाह की भयंकर घटना ने उनके हृदय को झकझोर दिया; उनका चित्त संसार से उदास हो गया। एक दिन वे विरक्त-हृदयी पाण्डव भगवान नेमिनाथ की वन्दना के लिए सपरिवार उनके समवसरण में गए। वहाँ भगवान की दिव्य-वाणी सुनकर उनका वैराग्य और अधिक प्रबल हो गया। दिव्य-ध्वनि में आ रहा था कि भोगों में सच्चा सुख नहीं है; आत्मा, स्वयं सुखमय तत्त्व है। उसे सुखी होने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं है।

आत्मा का हित तो आत्मा को समझकर उससे भिन्न समस्त पर-पदार्थों से ममत्व हटाकर अपने ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा में एकाग्र होने में है। लौकिक लाभ-हानि तो पुण्य-पाप का खेल है, उसमें आत्मा का हित नहीं है। यह आत्मा व्यर्थ ही पुण्य के उदय में हर्षित और पाप के उदय में खिन्न हो दुखी हो रहा है। मनुष्य भव की सार्थकता तो समस्त जगत से ममत्व हटाकर आत्म-केन्द्रित होने में है।

भगवान की दिव्य-वाणी सुनकर पाँचों पाण्डवों ने उसी समय भगवान से भव-भ्रमण का नाश करनेवाली दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण कर ली। उनकी माता कुन्ती तथा द्रौपदी, सुभद्रा आदि अनेक रानियों ने आर्यिका राजीमती (राजुल) से, आर्यिका के व्रत स्वीकार कर लिए।

पाँचों पाण्डव मुनिराज आत्म-साधना में तत्पर हो तपश्चरण करने लगे। एक बार वे शत्रुंजय-गिरि पर ध्यान-मग्न थे। उस समय दुर्योधन का वंशज/यवरोधन/कुर्योधन, किसी कार्य-वश वहाँ आया। इन पाण्डवों को देखकर उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी। वह सोचने लगा कि ये वही पाण्डव हैं, जिन्होंने दुर्योधन आदि कौरव-वंशी मेरे रिश्तेदारों की दुर्दशा की थी। उस समय ये शक्ति-सम्पन्न थे; अतः मैं कुछ नहीं कर सका। अब ये निःसहाय हैं; अस्त्र-शस्त्र-विहीन हैं;

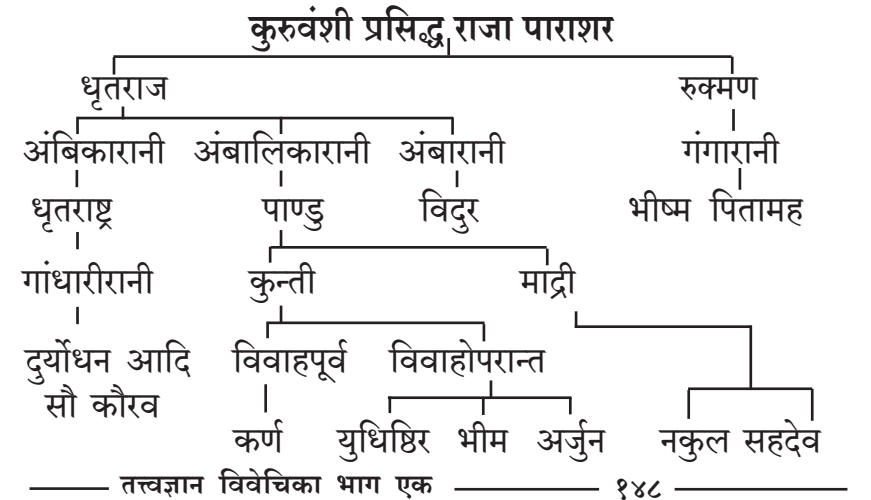
इस समय इनसे बदला लेना चाहिए; इन्हें अपनी करनी का मजा चखाना चाहिए। यह सोचकर उसने लोहे के गहने बनवाकर, उन्हें आग में तपाकर, लाल सुर्ख कर आत्म-ध्यान-निमग्न पाँचों पाण्डवों को पहिना दिए और कहने लगा—तुमने हमारे मामाओं से राज्य प्राप्त किया था। मैं तुम्हें आभूषण पहिना रहा हूँ।

इस भयंकर उपसर्ग से पाण्डवों का पार्थिव देह जलने लगा। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो ज्ञानानन्द-स्वभावी अपने आत्मा में लीनता रूप अपूर्व शीतल, शान्त अवस्था में क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सभी शुभाशुभ भावों, अष्ट कर्मों को भस्म कर, केवलज्ञान प्रगटकर, उसी शत्रुंजय-गिरि से मुक्त हो गए; परन्तु नकुल और सहदेव की आत्म-लीनता कुछ भंग हो गई; जिससे वे देवायु का बंधकर सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र देव हुए। बाद में वहाँ से आकर एक मनुष्य-भव धारण कर वे भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इसप्रकार युधिष्ठिर आदि तीन पाण्डव स्वरूप-स्थिरता के बल पर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि सभी संयोगों और संयोगी भावों से मुक्त हो अनन्त काल तक के लिए अव्याबाध सुखमय अशरीरी सिद्ध दशा को प्राप्त हो गए। हमें भी उन्हें आदर्श बनाकर उनके समान सतत ही अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ में तत्पर रहना चाहिए।

प्रश्न ३ : पाँच पाण्डवों का वंशोत्पत्ति-क्रम चार्ट द्वारा स्पष्ट कीजिए?

उत्तर : पाँच पाण्डवों का वंशोत्पत्ति-क्रम :



इसप्रकार पाण्डवों का वंशोत्पत्ति-क्रम है।

प्रश्न ४ : शत्रुंजय पर्वत से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर : शत्रुंजय पर्वत एक सिद्ध-क्षेत्र है। यहाँ से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन—इन तीन पाण्डवों के साथ ही द्रविड़ राजा आदि आठ करोड़ मुनिराज मुक्त हुए हैं। यह गुजरात प्रान्त के सौराष्ट्रवाले भाग में भावनगर के पास स्थित है। इसकी तलहटी में पालीताना नगर बसा होने से इसे पालीताना भी कहते हैं। अध्यात्म के लिए वर्तमान में प्रसिद्ध क्षेत्र सोनगढ़ से यह मात्र अठारह किलोमीटर दूर है। वर्तमान में श्वेताम्बर बन्धुओं का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हो जाने से यहाँ श्वेताम्बर आम्नायवाले सर्वाधिक मन्दिर तथा धर्मशालाएं हैं। दिगम्बर जैन मंदिर तथा धर्म-शालाएं भी हैं। इसकी यात्रा करते हुए पाण्डवों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न ५ : क्या द्रौपदी के पाँच पति थे ? यदि नहीं, तो वह पाँच पति के रूप में प्रसिद्ध क्यों हुई ?

उत्तर : द्रौपदी एक महा-सती महिला-रत्न थी। उसने मात्र अर्जुन का ही पति के रूप में वरण किया था। वह सदैव युधिष्ठिर और भीम को जेठ होने के कारण पिता के समान तथा नकुल और सहदेव को देवर होने के कारण पुत्र के समान देखती थी। हिन्दु-धर्म में भी महा-सती नारियों के अन्तर्गत उसका नाम आता है। उसे पाँच पतिवाला कहना, सती नारियों का अवर्णवाद है।

एक छोटी सी घटना के कारण विरोधी लोगों ने उसका ऐसा अपवाद किया था। वह इसप्रकार—जब द्रौपदी अर्जुन के गले में वरमाला डाल रही थी, तब अचानक माला का डोरा/धागा टूट जाने से अर्जुन के दोनों ओर बैठे दो-दो भाइयों के ऊपर भी उसके फूल गिर गए। जिन्हें यह संबंध मान्य नहीं था, उन्होंने इस घटना को देखकर उसका अपवाद फैला दिया कि इसने पाँच पतियों का वरण किया है। हमें सही ज्ञानकर ऐसे अपवादों से बचना चाहिए।

प्रश्न ६ : पाण्डवों के इस जीवन-चरित्र से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

उत्तर : पाण्डवों का समग्र जीवन, शुभ, अशुभ और शुद्ध भावों के फल का चित्रण करनेवाली खुली हुई पुस्तिका है। उससे हमें अनेकानेक

शिक्षाएं मिलती हैं। जो इसप्रकार हैं—

१. जुआ खेल में उलझकर या शर्त लगाकर पाँसे खेलने में उलझकर महा-पराक्रमी पाण्डवों को भी अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा; अतः हमें कोई भी कार्य, शर्त लगाकर नहीं करना चाहिए।

२. आत्म-साधना के विना लौकिक जीत-हार का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा की सच्ची जीत तो मोह, राग, द्वेष को जीतने में है।

३. पूर्व-भव में याज्ञिक ब्राम्हण होने से यज्ञ के लिए लकड़ी/समिधा के नाम पर जो अन्य पशु-पक्षियों के बसे हुए घर उध्वस्त किए थे; अनेकों के घर जला डाले थे; उसके परिणाम-स्वरूप इनका घर भी जलाया गया। इनकी बसी हुई गृहस्थी बारम्बार उध्वस्त हुई। राज्य प्राप्त कर लेने के बाद भी राज्य-सुख नहीं भोग सके।

इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि कभी भी किसी के भी बसे हुए घर नहीं उजाड़ना चाहिए। साफ-सफाई के नाम पर मकड़ियों के जाल, चिड़ियों आदि के घोंसले नष्ट नहीं करना चाहिए। यदि आप अपनी जगह में दूसरों को नहीं रहने देना चाहते हैं तो उन कीड़े-मकोड़ों के घर बनाने के पूर्व ही समय-समय पर सब ओर साफ-सफाई कर लेना चाहिए; जिससे वे अपने घर बना ही नहीं सकें।

४. द्रौपदी का जीव दो भव पूर्व आर्यिका था। एक बार वन में एक वेश्या से उसके पाँच यार विषय-सुख की माँग कर रहे थे। यह देखकर उन आर्यिका को यह भाव आया कि अहो ! इसका जीवन कितना सुखमय है। उस पाप की अनुमोदना करने के कारण वर्तमान द्रौपदी-भव में महा-सती होने पर भी पाँच पति का कलंक सहन करना पड़ा। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि स्वयं तो पाप करना ही नहीं, कराना भी नहीं, करते हुए की अनुमोदना भी नहीं करना; क्योंकि अनुमोदना के फल में पाप का कलंक, निष्पाप-जीवन पर भी लग जाता है।

५. कीचक की घटना से हमें यह सीखने को मिलता है कि बुरे भावों का बुरा फल भोगना ही पड़ेगा; अतः बुरे भावों से बचें।

६. पाँचों पाण्डवों पर इतना भयंकर उपसर्ग होने पर भी वे आत्माराधना से च्युत नहीं हुए; इसका अर्थ यह है कि इतनी भयंकर परिस्थिति में भी

उस परिस्थिति से भिन्न आत्माराधना सम्भव है—इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि परिस्थितिओं का बहाना बनाकर आत्माराधना से विमुख नहीं होना चाहिए। यह पूर्णतया अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है, परिस्थितिओं पर नहीं।

७. तीन पाण्डवों की मुक्ति और दो के सर्वार्थसिद्धि-गमन से भी हमें यह शिक्षा मिलती है कि बाह्य परिस्थितिआँ, प्रवृत्तिआँ, दशाएं समान होने पर भी अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ में अन्तर होने से अवस्थाएं पृथक्-पृथक् हो गईं। इतना-सा पर-लक्ष्यी परिणाम भी इतना लम्बा संसार बड़ाने में समर्थ है। हम अन्य के संबंध में विविध विकल्पों के माध्यम से अपना संसार तो बड़ा सकते हैं ; पर उसका कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं है ; अतः ऐसे निरर्थक विकल्पों से वश हो ; एक स्वरूप-स्थिरता ही कर्तव्य है।

८. कृष्ण द्वारा देश-निकाला दिए जाने की घटना से यह शिक्षा मिलती है कि जैसे तो हँसी-मजाक करना स्वयं में ही कषायमय कार्य होने से बुरा है ही ; तथापि परिस्थिति की गंभीरता का विचार किए बिना, अपने उपकारी के साथ किया गया हँसी-मजाक तो अत्यधिक अनर्थकारी सिद्ध हो जाता है ; अतः ऐसे दुष्कृत्यों से दूर रहते हुए अपना जीवन सरल, निश्चल बनाना चाहिए।

इत्यादि अनेकानेक शिक्षाएं इस कहानी से हमें प्राप्त होती हैं।

जो जो देखी वीतराग ने, सो-सो- होसी वीरा रे

अनहोनी होसी नहीं कबहूँ, काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढ़े नहीं घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन मूरख, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥२॥
लगै न तीर कमान बान कहूँ, मार सकै नहीं मीरा रे।
तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनंत तौ तीरा रे॥३॥
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु कौ, जो टारे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनौ, जो तारे भव नीरा रे॥४॥

मोह नींद से जाग रे सुन रे मूरख जीव।

मिथ्या मति को छोड़कर जिनवाणी रस पीव॥

पाठ ९ : भावना बत्तीसी

प्रश्न १ : आचार्य अमितगति का व्यक्तित्व-कर्तृत्व लिखिए ?

उत्तर : उज्जयनी नगरी के राजा वाक्पतिराज मुंज की राज-सभा में प्रतिष्ठा-प्राप्त आचार्य अमितगति प्रथित-यश सारस्वताचार्यों में से एक हैं। आप विक्रम संवत् ११वीं शती के बहु-श्रुत विद्वान और विविध विषयों के ग्रंथकार आचार्य हैं। आपने अपनी 'धर्म-परीक्षा' कृति की प्रशस्ति में अपनी गुरु-परम्परा तथा अमरकीर्ति ने अपनी कृति 'छक्कम्मोवएस' में आपकी शिष्य-परम्परा को इसप्रकार स्पष्ट किया है—गुरुणांगुरु वीरसेन के शिष्य देवसेन, देवसेन के शिष्य योगसार प्राभृतकार अमितगति प्रथम, इनके शिष्य नेमिषेण, नेमिषेण के शिष्य माधवसेन और माधवसेन के शिष्य प्रस्तुत अमितगति द्वितीय, इनके शिष्य शान्तिषेण, शान्तिषेण के शिष्य अमरसेन, अमरसेन के शिष्य श्रीसेन, श्रीसेन के शिष्य चंद्रकीर्ति और उनके शिष्य छक्कम्मोवएस के कर्ता अमरकीर्ति हैं।

आपकी अनेकानेक कृतिआँ मानी जाती हैं। उनमें से कुछ कृतिआँ ये हैं—सुभाषित रत्न-संदोह, धर्म-परीक्षा, उपासकाचार, पंचसंग्रह, आराधना, भावना द्वात्रिंशतिका।

१. सुभाषित रत्न-संदोह : वि. सं. १०५० की पौष शुक्ल पंचमी को मुंज-राजा के राज्य-काल में रचा गया यह ग्रंथ सुभाषित रूपी रत्नों का रत्नाकर है। ३२ प्रकरण तथा ९२२ पद्यों में निबद्ध, आध्यात्मिक, आचारात्मक और नैतिक तथ्यों की अभिव्यंजना सुभाषित शैली में करनेवाला यह ग्रंथ, सुभाषित-नीति-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

२. धर्म-परीक्षा : व्यंग-प्रधान शैली में रचे गए संस्कृत-साहित्य में यह अपने ढंग की अद्भुत रचना है। इसमें पौराणिक ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओं को बड़े ही मनोरंजक रूप में अविश्वसनीय सिद्ध किया गया है। १९४५ पद्यों में निबद्ध इस ग्रंथ में आक्रमणात्मक शैली न अपनाते हुए सुझावात्मक शैली द्वारा व्यंग और संकेतों के आधार पर सृष्टि-उत्पत्तिवाद, सृष्टि-प्रलयवाद आदि असम्भव और

मन-गढ़न्त बातों की, कथाओं द्वारा समीक्षा की गई है।

३. उपासकाचार : १५ अध्याय और १३५२ पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ अमितगति-श्रावकाचार नाम से भी प्रसिद्ध है। विशद, सुगम और विस्तृत इस श्रावकाचार में मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का अन्तर, सप्त तत्त्व, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत, ध्यान आदि का विस्तृत वर्णन है।

४. पंचसंग्रह : १३७५ पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ प्राकृत पंचसंग्रह के समान करणानुयोग के विषयों को अत्यंत सरल और मधुर शैली में स्पष्ट करता है। इसमें जीवसमास, प्रकृतिस्तव, कर्मबंधस्तव, शतक और सप्तति—इन पाँच प्रकरणों द्वारा कर्म-सिद्धांत को अवगत कराया गया है।

५. आराधना : आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना का यह संस्कृत रूपान्तर है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चार आराधनाओं के विवेचन के साथ ही प्रसंग-वश जैन-धर्म के अन्यान्य प्रमेय भी समाविष्ट हैं।

६. भावना द्वात्रिंशतिका : ३३ पद्यों का यह छोटा सा प्रकरण, सांसारिक भावों से भिन्न अपने आत्मा की शुद्धता को पर्याय में व्यक्त करने का मार्ग प्रशस्त करनेवाला अत्यंत सरस और हृदय को पावन करनेवाला ग्रंथ है।

इनके अतिरिक्त लघु और वृहत् सामायिक पाठ, जम्बुद्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्धद्वय-द्वीप-प्रज्ञप्ति, चंद्र-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रंथ भी आपकी रचनाएं मानी जाती हैं।

इसप्रकार आपने अपनी लेखनी द्वारा जिनवाणी माँ के अक्षय-कोश को समृद्ध करने में अनुकरणीय, अनुमोदनीय सहयोग प्रदान किया है।

प्रश्न २ : भावना बत्तीसी का सामान्य अर्थ लिखिए?

उत्तर : आचार्य अमितगति की अनुपम, अध्यात्म रस गर्भित कृति भावना द्वात्रिंशतिका का यह सामान्य भावानुवाद है। यह आध्यात्मिक विद्वान पण्डित जुगल किशोरजी युगल की अनूदित प्रसिद्धतम एक कृति है। इसमें साम्य-भाव की साधना का प्रयोगात्मक प्रयास मुखरित हुआ है। इसमें वीतरागी भगवान से प्रार्थना के रूप में अपना कर्तव्य सुनिश्चित

करते हुए; अपने समस्त दुष्कृत्यों की प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्या-ख्यान, निन्दा, गर्हा द्वारा क्षमा-याचना कर; वस्तु-स्वरूप के यथार्थ निर्णय पूर्वक स्व-पर का भेद-विज्ञान कर आत्म-प्रतीति पूर्वक जगत से उदास हो स्वरूप-स्थिरता की भावना परिपुष्ट की गई है।

इसका क्रमशः अर्थ इसप्रकार है—

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।

करुणा-स्रोत बहे दुखियों पर दुर्जन में मध्यस्थ विभो॥१॥

हे भगवान ! मेरे मन में सभी जीवों के प्रति प्रेम-भाव हो, गुणवान व्यक्तियों के प्रति हर्ष/प्रसन्नता का, दुखी जीवों के प्रति दया/करुणा का और विपरीत बुद्धिवाले, वस्तु-स्वभाव को नहीं माननेवाले दुर्जनों के प्रति मध्यस्थता/समता का भाव सतत बना रहे॥१॥

यह अनंत बल-शील आत्मा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।

ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको॥२॥

हे भगवान ! जैसे तलवार, म्यान से पूर्णतया पृथक् होने के कारण सरलता, सहजता से पृथक् हो जाती है; उसी प्रकार मुझे वह अनन्त आत्म-सामर्थ्य/स्व-पर भेद-विज्ञान के बल पर अनंत पदार्थों में से स्वयं को पूर्णतया पृथक् करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे मैं अपने अनन्त वैभव-संपन्न आत्मा को इस शरीर से श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र रूप में पूर्णतया पृथक् कर सकूँ॥२॥

सुख-दुख बैरी बन्धु वर्ग में, काँच-कनक में समता हो।

वन-उपवन प्रासाद कुटी में, नहीं खेद नहीं ममता हो॥३॥

हे प्रभो ! मुझमें ऐसा साम्य-भाव प्रगट हो जिससे मुझे सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, काँच-कनक/सुवर्ण, वन-बगीचा, महल-कुटिया इत्यादि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में न तो ममत्व हो और न खेद-खिन्नता हो॥३॥

जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ।

वह सुन्दर पथ ही प्रभु ! मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ॥४॥

हे प्रभो ! आपने आत्म-स्थिरता के जिस सुन्दरतम मार्ग पर चलकर मोह, मान, विषय-वासना आदि विकारों को जीता है/नष्ट किया है; वही सुन्दर मार्ग, मेरा भी अनुशीलन मार्ग बने; मैं भी उसी

मार्ग पर चलकर स्वरूप-स्थिर रहूँ॥४॥

एकेंद्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।

शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो॥५॥

हे प्रभो ! अज्ञान, कषाय, प्रमाद आदि के वशीभूत हो मैंने एकेंद्रिय आदि प्राणिओं की हिंसा की है। अब मैं विशुद्ध भाव से इसका प्रायश्चित्त करता हूँ; पुनः मैं ऐसा दुष्कृत्य नहीं करूँगा। पूर्व-कृत मेरा यह दुष्कृत्य निष्फल हो जाए/मेरे शुद्ध भावों का निमित्त पाकर, विना फल दिए ही पूर्व-बद्ध कर्म समाप्त हो जाएं॥५॥

मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्तन, जो कुछ किया कषायों से।

विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से॥६॥

मैंने कषायों के वशीभूत हो मोक्ष-मार्ग से विरुद्ध जो भी प्रवृत्ति की है, खोटे मार्ग पर गमन किया है; वह सब मेरी कलुषता मेरे सद्भावों/सम्यक् परिणमन से नष्ट हो जाए॥६॥

चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु ! मैं भी आदि उपांत।

अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त॥७॥

हे प्रभो ! जैसे चतुर वैद्य अपनी चतुराई से विष को शान्त कर देता है; उसीप्रकार मैं भी अपने पापों को शान्त करने के लिए प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त अपने सभी दुष्कृत्यों की निन्दा-आलोचना करता हूँ॥७॥

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।

व्रत विपरीत-प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया॥८॥

मैंने सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने में भी अपने मन को मलिन रखा तथा व्रतों से विपरीत प्रवृत्ति करके शीलमय आचरण/सदाचार का भी लोप कर डाला/स्वच्छन्द प्रवर्तन करने लगा॥८॥

कभी वासना की सरिता का, गहन सलिल मुझ पर छाया।

पी पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया॥९॥

कभी विषय-वासनामय इंद्रिय-विषयों की इच्छारूप नदी का गहरा जल, मुझ पर ऐसा चड़ गया कि मैं अपनी सुध-बुध ही खो बैठा। पंचेंद्रिय विषय-भोगों रूपी शराब को बारम्बार पीने से मुझमें पागलपन आ गया। मैं हित-अहित का विवेक करने में भी असमर्थ

हो गया हूँ॥९॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य-आचरण किया।

पर-निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया॥१०॥

हे भगवान ! मैंने सदा छल/माया आदि कषायों के वशीभूत हो असत्य/वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध आचरण किया है। मेरे मन में अन्य की निन्दा करने के, चुगली करने के, अन्य को गाली देने के इत्यादि जो भी भाव उत्पन्न हुए, तदनुसार मुँह से भी उगला/वचनों से भी वैसा ही व्यवहार किया है॥१०॥

निरभिमान उज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।

निर्मल-जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे॥११॥

हे स्वामी ! अब मात्र यही चाह है कि मेरा मन अभिमान-रहित हो जाए, उसमें सदा सत्य का/वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ही ध्यान चलता रहे। निर्मल जल से परिपूर्ण नदी के समान मेरे हृदय में भी सदा निर्मल ज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहे॥११॥

मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनंत का ध्यान रहे।

गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे॥१२॥

परम-पूज्य, मुनिराज, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि के मन में भी जिस अनन्त वैभव-सम्पन्न परम-देव/निज शुद्धात्मा का ध्यान रहता है; वेद-पुराण आदि चार अनुयोगमई समग्र जिनवाणी जिसका सदा यशोगान करती है; वह परम-देव निज-शुद्धात्मा, मेरे हृदय में भी सदा विद्यमान रहे॥१२॥

दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किए।

परम ध्यान गोचर परमात्म, परम देव मम हृदय रहे॥१३॥

जो दर्शन-ज्ञान स्वभावी है, जिसने सभी विषय-विकारों/विकृतिओं को नष्ट कर दिया है, जो उत्कृष्ट ध्यान में ही उपलब्ध होता है; वह परमात्मा परम-देव, मेरे मन में वास करे॥१३॥

जो भव-दुख का विध्वंसक है, विश्व-विलोकी जिसका ज्ञान।

योगी-जन के ध्यान-गम्य वह, बसे हृदय में देव महान॥१४॥

जो संसार के सभी संतापों को नष्ट कर देता है, जिसका ज्ञान समस्त विश्व को जाननेवाला है, योगीजन जिसे ध्यान द्वारा उपलब्ध

करते हैं; वह महान देव, मेरे मन में स्थित रहे॥१४॥

मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत।

निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप॥१५॥

जो मुक्ति के मार्ग को/समस्त बन्धनों, पराधीनताओं से मुक्त हो स्वतन्त्र, स्वाधीन, परम सुखी होने के मार्ग/उपाय को बताता है; जन्म-मरण से पूर्णतया रहित है, समस्त कर्म-कलंक से रहित और तीनकाल-तीनलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को देखनेवाला है; वह देव, मेरे मन के निकट रहे/मेरा मन सदा उसमें ही स्थिर रहे॥१५॥

निखिल-विश्व के वशीकरण वे, राग रहे ना द्वेष रहे।

शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे॥१६॥

समस्त विश्व के प्राणी जिनके अधीन हैं, ऐसे वे राग-द्वेष जिसमें नहीं हैं; जो शुद्ध, इंद्रियातीत और ज्ञान-स्वरूपी है; वह परम-देव, मेरे हृदय में वास करे॥१६॥

देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म-कलंक-विहीन विचित्र।

स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र॥१७॥

जो सम्पूर्ण विश्व को देख रहा है, कर्म-कलंक से पूर्णतया रहित है, विचित्र/आश्चर्य-कारी अद्भुत स्वभाव वाला है, विशिष्ट निर्मल है, समस्त विकारों से पूर्णतया रहित है; वह देव, मेरे मन को भी पवित्र करे॥१७॥

कर्म-कलंक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।

मोह तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त॥१८॥

कर्म-कलंक जिसका कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता है, वास्तव में तो यह दिव्य प्रकाश भी जिसका स्पर्श नहीं कर सकता है/जो पर्याय मात्र से अप्रभावित है, जिसने मोह रूपी अन्धकार का पूर्णतया भेदन कर दिया है; वह आप्त-देव ही मुझे परम शरणभूत है॥१८॥

जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।

स्वयं ज्ञानमय स्वपर-प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त॥१९॥

जिसकी केवलज्ञानमई दिव्य-ज्योति के समक्ष सूर्य का प्रकाश भी तेज-हीन दिखाई देता है, जो स्वयं ज्ञानमय है, स्व-पर प्रकाशक है; वह आप्त-देव ही मुझे परम शरणभूत है॥१९॥

जिसके ज्ञानरूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।

आदि अंत से रहित शांत शिव, परम शरण मुझको वह आप्त॥२०॥

जिसके ज्ञानरूपी दर्पण में सभी पदार्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं, जो आदि-अन्त से रहित शाश्वत है, शान्त है, शिव/कल्याण-स्वरूप है; वह देव ही मुझे परम शरणभूत है॥२०॥

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।

भय-विषाद चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव॥२१॥

जैसे—अग्नि सहज ही वृक्ष को जला डालती है; उसीप्रकार जिसके भय, विषाद, चिन्ता आदि सभी विकार स्वयं ही नष्ट हो गए हैं; वह देव ही मुझे परम शरणभूत है॥२१॥

तृण चौकी शिल शैल शिखर नहीं, आत्म-समाधी के आसन।

संस्तर पूजा संघ सम्मिलन, नहीं समाधी के साधन॥२२॥

तृण/घास का आसन, चौकी, शिला, पर्वत की चोटी आदि आत्मा में समाधि/स्थिरता के आसन नहीं हैं। इसीप्रकार संस्तर/संथारा, पूजा-प्रतिष्ठा, संघ का सम्मेलन अथवा योग्य संघ का समागम प्राप्त हो जाना, समाधि/आत्म-स्थिरता के साधन नहीं हैं॥२२॥

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।

हेय सभी है विश्व-वासना, उपादेय निर्मल आतम॥२३॥

प्रिय पदार्थों के बिछुड़ जाने और अप्रिय पदार्थों का संयोग हो जाने पर संसारी प्राणी दुःख-शोक आदि करता है; परन्तु वास्तव में तो सभी विश्व-वासना/किसी भी पदार्थ के प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति/समस्त परलक्ष्यी परिणाम, हेय/छोड़ने-योग्य ही हैं। एक-मात्र अपना निर्मल आत्मा ही उपादेय/आश्रय लेने-योग्य है॥२३॥

बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा और न बाह्य जगत का मैं।

यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति-हेतु नित स्वस्थ रमें॥२४॥

बाह्य जगत/जगत में रहनेवाले पर-पदार्थ मेरे कुछ भी नहीं लगते, मैं भी इन पर-पदार्थों का कुछ भी नहीं लगता; इनका मुझसे और मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है—इस सत्य तथ्य को दृढ़ता पूर्वक स्वीकार करके मैं सम्पूर्ण पर-पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर, मुक्ति के लिए सदा अपने में ही स्थिर होता हूँ/आत्म-रमण करता हूँ॥२४॥

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।

जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ॥२५॥

अपना सम्पूर्ण वैभव तो अपने में ही है, बाह्य पदार्थों में उसे पाने का प्रयास करना निरर्थक है। जग के इन पर-पदार्थों को सुखमय तथा सुख के कारण मानना तो मृग-मरीचिका के समान भ्रम है; अतः इनके लिए किया गया पुरुषार्थ भी मिथ्या है॥२५॥

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।

जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है॥२६॥

आत्मा अक्षय/अविनाशी, शाश्वत/अनादि-अनन्त स्थाई, निर्मल और ज्ञानस्वभावी है। इसके अतिरिक्त जो भी है वह सभी इससे भिन्न, पर है, कर्माधीन और नाश-शील है॥२६॥

तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत तिय मित्रों से कैसे।

चर्म दूर होने पर तन से, रोम-समूह रहें कैसे॥२७॥

जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है; उस आत्मा का एकत्व पुत्र, पत्नी, मित्र आदि के साथ कैसे हो सकता है ? जैसे—शरीर से चमड़ी पृथक् हो जाने पर, शरीर में रोम-समूह कैसे रह सकता है?॥२७॥

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़-देह संयोग।

मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग॥२८॥

जो जीव, जड़ शरीर आदि पर-पदार्थों के साथ संयोग करता है, उन्हें अपना मानता है, वह अनन्त दुःख प्राप्त करता है। मोक्षरूपी महल को प्राप्त करने का उपाय तो जड़ शरीर आदि और चेतन आत्मा के पूर्णतया पृथक्-पृथक् होने रूप अत्यंत सीधा, सरल, सुगम है॥२८॥

जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।

निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्मा, फिर फिर लीन उसी में हो॥२९॥

हे आत्मन ! यदि सुखी होना चाहते हो तो संसार-सागर में गिरानेवाले सम्पूर्ण विकल्प-समूहों को छोड़कर; समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित निर्विकल्प, संसार के जंजाल से रहित निर्द्वन्द्व आत्मा में पुनः-पुनः स्थिर होओ॥२९॥

स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।

करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किए निष्फल होते॥३०॥

जीव ने जो भी शुभ या अशुभ कर्म स्वयं किए हैं; वे नियम से अपना फल देते हैं। कार्य स्वयं करे और फल अन्य के अधीन हो तो अपने द्वारा किए गए कर्म व्यर्थ हो जाएंगे, संसार में पुरुषार्थ करने का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा॥३०॥

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।

‘पर देता है’ यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि॥३१॥

जीव को अपने कर्मों के सिवाय अन्य कोई भी फल नहीं देता है; इसलिए कोई दूसरा मुझे कुछ दे सकता है—यह विचार छोड़कर, प्रमादी बुद्धि नष्टकर, आत्म-कल्याण-कारी कार्यों में जागृत रहते हुए आत्मा में स्थिर हो जाओ॥३१॥

निर्मल सत्य शिवं सुन्दर है, अमितगति वह देव महान।

शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण॥३२॥

अमितगति आचार्य कहते हैं कि आश्चर्य-कारी अनन्त वैभव-सम्पन्न वह महान देव निर्मल, सत्य/वास्तविक, शिव/कल्याणमय, सुन्दर/मनोहारी शाश्वत है। जो इसका सदैव अपने में ही अनुभव करते हैं, वे पवित्रतम पद निर्वाण को प्राप्त करते हैं॥३२॥

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसैं

संत निरंतर चिन्तत ऐसैं, आतमरूप अबाधित ज्ञानी॥टेक॥
रोगादिक तो देहाश्रित हैं, इनतैं होत न मेरी हानी।
दहन दहत ज्यों दहन न तद्गत, गगन दहनता की विधि ठानी॥१॥
वरणादिक विकार पुद्गल के, इनमें नहिं चैतन्य निशानी।
यद्यपि एकक्षेत्र-अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी॥२॥
मैं सर्वांग पूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी।
मिलौ निराकुल स्वाद न यावत, तावत पर परनति हित मानी॥३॥
‘भागचंद्र’ निरद्वंद्व निरामय, मूर्ति निश्चय सिद्ध समानी।
नित अकलंक अबंक शंक बिन, निर्मल पंक विना जिमि पानी॥४॥

मैं एक शुद्ध ममत्व-हीन रु ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।